

भ्रामरी

परम पूज्य आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा.



राम चमक रहे भानु समाना

प्रकाशक :

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

ISBN : 978-93-86952-36-3

भ्रामरी

प्रथम संस्करण : मार्च 2019

प्रतियाँ : 5000

मूल्य : 100/-

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग,

श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड

गंगाशहर, बीकानेर - 334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261

मुद्रक :

.....बीकानेर

प्रकाशकीय

भाव क्या ? भीतर से उठने वाली तरंगों को शरीर के ध्वनि यंत्रों द्वारा व्यक्त कर देना मात्र ही भाव नहीं है। वह व्यक्त स्थिति उस वक्ता के विचार-पुंज का प्रकाश मात्र है, एक किरण मात्र है, संकेत मात्र है। भीतर के भावों के स्तर को, उसकी आंतरिक स्थिति को केवल उस संकेत से नहीं जाना जा सकता। परिचय कभी व्यक्ति नहीं हो सकता। व्यक्ति भिन्न है और परिचय उस व्यक्ति का संकेत।

विद्युत, तार में प्रवाहित होते हुए भी अव्यक्त है। गुप्त और अप्रच्छन्न है। लेकिन जैसे ही किसी विद्युत उपकरण का साथ मिला कि वह ऊर्जा व्यक्त हो जाती है, दृश्य हो जाती है। इससे पहले भी ऊर्जा तो थी, पर अव्यक्त ...

किसी महापुरुष का वक्तव्य, उसके भीतर की दशा या स्थिति का परिचय मात्र है। उसके भीतर गूंजने वाली आत्मसुख की गुंजार उसके भीतर स्थायी रूप से विद्यमान रहती है। उस गुंजार की मस्ती का अनुभव उस महापुरुष से अधिक अन्य कोई नहीं कर सकता और न ही वह महापुरुष किसी अन्य के सहभागिता की अपेक्षा ही रखता है। गुंजन से उसकी समस्त इन्द्रियाँ और साथ ही आत्मा भी स्निग्ध रहती है। वह भ्रमर की तरह अपनी गुंजन, भ्रामरी में मस्त बना रहता है और जीवन भर उसी गुंजन में एकाग्र होकर एक दिन उसी को समर्पित हो जाता है। ऐसा समर्पण कि वह जगत को नहीं, स्व को सुनता है। फिर वह जगत आलोचना में नहीं आत्मालोचना में तत्पर रहता है।

शास्त्रों में भ्रमर और साधु की कई समान स्थिति में तुलना की गई है। भ्रमर एक पुष्प से बंधकर नहीं रहता तो साधु भी किसी दायरे में नहीं बंधता। दोनों ही अलमस्त फकीर... दोनों गुंजार करते हैं। दोनों स्व सुख में निमग्न रहते हैं। दोनों की गुंजार उनके अंतर को सुखदायी होती है।

भ्रमर एक नहीं अनेक पुष्पों पर गुंजार करता स्व सुख में आनंद मनाता है। न कोई अपेक्षा किसी से, न ही वांछा। बस कर्तव्य सुख, स्व सुख का आनंद। साधु भी अपनी मस्ती में घूमता है। साधु भी स्व सुख में निरत, किसी को कष्ट न देते हुए विचरता रहता है। लेकिन उसकी गुंजार सदा उसके अंतस् में गुंजरित होती रहती है।

अलमस्त संत पूज्य आचार्य श्री रामलाल जी म.सा. भी आगमानुसार जीवन चर्या के परिचय स्वरूप हैं। संत की देह तो आगम का परिचय है ही, भीतर प्रवाहित आगमों की धाराओं और सूत्रों का अनुमान लगाना हम अल्पज्ञों के लिए संभव नहीं। उनके विचारों का संकलन हमें प्राप्त हो सका, जिसे आम जनता के उपयोगी बनाने हेतु एक सुंदर आकार देकर प्रस्तुत किया जा रहा है। यह दैनिक क्रियाओं में जगत की दलदल से बाहर निकालकर आध्यात्म की ठोस धरातल पर ले जाने का माध्यम बनेगा। प्रस्तुत है एक भ्रमर के गुंजन को व्यक्त करने का एक छोटा सा प्रयास रूप यह पुस्तक 'भ्रामरी'

अहोभाव



संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'भ्रामरी' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

-अर्थ सहयोगी-

राजदेवी जयचन्दलाल डागा चैरिटेबल ट्रस्ट

बीकानेर



अनुक्रम



परिचय से मन आश्वस्त	1	जीत कर भी हार, हार कर भी जीत	20
पैसे की पैदाइश को देखो	2	बहुमूल्य हीरा किसमें जड़ना	21
प्रार्थना व पुरुषार्थ	3	दुल्हा मुख्य, न की बराती	22
तरीके ईजाद करो	4	जहाँ हो वहीं रहो	23
सामायिक के पाँच भाग (1)	5	झण्डा ऊँचा रहे हमारा	24
सामायिक के पाँच भाग (2)	6	अनगढ़ पत्थर जो तराशे	25
सद्गुण ग्राहक बनो	7	वफादारी स्वयं के प्रति	26
अत्यन्त साहसिक कदम	8	एक छोड़ें, एक स्वीकारें	27
नेतृत्व कौशल	9	उठो ! अवसर को साधो	28
महानता के पाँच सूत्र	10	हल्का होना जिनत्व की राह	29
अहो भाग्य सही राह मिली	11	बिना चाह से सम्यक् राह	30
पण्डित की पहचान	12	सहज योग का महात्म्य	31
विवेक प्रज्ञा जागृत रहे	13	कमी को ढूँढो-दूर करो	32
देख तमाशा तिगड़ी का	14	सत्य तथ्य को समझने का गुर	33
प्रसन्नता आत्म-अधिगत है	15	आत्मा का आलोक अभय	34
अच्छाई से बुराई जीतें	16	बदलें मन की मान्यताएं	35
अन्तस् अपेक्षा विषय जगाते	17	ऐसे होती है दुःख की खेती	36
बीज एक फल अनेक	18	पुण्य-आत्म प्रकाशी बनें	37
स्वार्थ जीवन का पंचर है	19	स्नेह जलधार बरसाओ	38

उत्तम पुण्य की पहचान	39	हित की बात सुने चितचाय	61
बुद्धि : हित साधिका	40	पहला प्रयोग अपने पर	62
सद्भाव की अद्भुत महिमा	41	गुण ग्रहण का भाव रहे नित	63
भक्ति जगाए सत् की शक्ति	42	अकिंचन क्यों देखे कंचन को	64
चंचल चित्त स्थिर कर रे	43	तुझमें भी वह मौजूद है	65
कड़वा तुम्बा	44	महावीर सी मस्ती में जीओ	66
दुःख का बीज बोना मत	45	आत्म विकासी तत्त्वत्रयी	67
राग-राग में भेद	46	अशान्ति का कारण वह नहीं	68
अध्यात्म-यात्रा	47	अति भार मत लाद	69
नमोतिथस्स	48	सर्व मंगल रूप बनो	70
मोह तन्द्रा को तोड़ें (उड़ाएं)	49	दुविधा के बीज बोयें ना	71
मोक्ष के लिए वीजा	50	सदाचार है नींव धर्म की	72
बीमारी लाईलाज नहीं है	51	सर्व मान्य बाटों से तोलें	73
ज्योतिर्धर	52	पवित्रता में परमात्मा	74
देखो, पानी सूख न जाय	53	समय व्यर्थ गंवाना क्यों ?	75
संयम : अपना आत्म-धन	54	सहज प्रवाहित भाव प्रशंसा	76
गूढ़ संदेश देती स्तुति	55	सत्य में जीएं - शान्ति से जीएं	77
भोजन कब और कितना	56	स्वयं को खोना नहीं	78
आस्तिक कौन ?	57	अमृत पाथेय	79
मन बने ना वॉलीबॉल	58	आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (1)	80
बोली बोलें सोच के	59	आध्यात्मिक उत्क्रान्ति सूत्र (2)	81
वैराग खो न जाय	60	आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (3)	82

आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (4)	83	दिव्यता के चार सूत्र	105
आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (5)	84	सुखद जीवन का सूत्र	106
आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (6)	85	जो मनस्ताप नहीं मनस्तोष दे	107
बिन्दु से सिन्धु की खोज	86	धर्मानुभूति कैसी ?	108
मियं, मियं, मियं	87	जानें धर्म का सत्य स्वरूप	109
अनुत्तर धर्म- अनुत्तर स्थान	88	अपनी चाबी अपने हाथ	110
धर्मोद्यान में विचरें	89	आचरण अर्हता के लिए	111
प्रतिरोधात्मक क्षमता	90	मोक्ष की चाह, पर राह कैसी ?	112
सृष्टि, भगवान महावीर की दृष्टि	91	उन्माद का उपचार	113
एक धक्का और दो	92	निशाना खाली नहीं जाय	114
विश्वास है तो विश्व है	93	आत्म-सुरक्षा-कवच	115
धर्म की पहचान	94	दायित्व-निर्वाह भाव से	116
जीवन जीएं खुशहाली से	95	सदा स्मृति बनी रहे	117
भक्ति से हृदय भीगा जाय	96	आस्था-उल्लास से अभ्यास	118
अगला कदम मोक्ष	97	संयम-सुख का द्वार	119
धर्माभ्यास निरन्तर हो	98	ध्रौव्य पर स्थिर रहें	120
संवेदन हीनता का खतरा	99	अपने रंग की रंग दे चुनरिया	121
समभाव को कैसे साधें	100	विद्रोह, क्रान्ति नहीं है	122
न शिकवा न शिकायत	101	आचार्य-पद की गुरुता	123
तृप्ति दायक वीर पथ	102	समाधि सूत्र-मान को नमा	124
जिनवाणी में भरा अमृत	103	एलर्जी से बचने के उपाय	125
वार्धक्य अनिवार्य नहीं	104	कठिन है कषाय त्याग	126

सुखी रहने का राज	127	मोड़ पर मुड़ना कैसे ?	138
अन्तर्यामी	128	संवाद से विवाद टरे	139
इज्जत लो मत, दो	129	स्वयं को संयमित बनाओ	140
धर्माचरण, आत्मोत्कर्ष के लिये	130	किस श्रेणी में हैं हम ?	141
पहले स्वयं को देखो	131	घर जमाइयों को दूर हटाओ	142
तत्त्व-चतुष्टयी	132		
विरक्त मन तू सोच	133		
दृष्टि तुम्हारी निर्णय तुम्हारा	134		
उसी डाल को काटे क्यों ?	135		
धर्म का माप	136		
पछाड़ने के लिए पिछड़ो मत	137		

आगम के आदर्श में झाँकें

आचार्य भद्र बाहु स्वामी का संक्षिप्त जीवन वृत्त पढ़ रहा था। वराहमिहिर व्यन्तर द्वारा उपसर्ग करने पर आचार्य श्री ने उवस्सगहरस्तोत्र की रचना की। उस प्रसंग से बताया गया कि अभिमंत्रित जल के छिड़कने से उपस्थित लोगों के संकट दूर हो गये। जल मंत्रित करना, छिड़कना क्रियाएँ साध्वाचार से कुछ हट कर हैं। आचार्य श्री भद्र बाहु स्वामी ने वैसा किया हो, विश्वास नहीं होता। कदाचित मान लें कि वैसा किया हो तो क्या आज के साधुओं को उनकी नकल करके वैसी प्रवृत्तियाँ करनी चाहिये? विचार करें आचार्य भद्रबाहु के समक्ष संघ पर भारी विपदा थी, उसकानिवारण अनिवार्य था। क्या आज वैसा संकट संघ पर है? दूसरी बात, वे पूर्व धर थे, आगम व्यवहारी थे, वे अपने ज्ञान-बल से कुछ भी करें, वह अन्य के लिए उपादेय नहीं हो सकता। आज के संत आगम व्यवहारी नहीं हैं। लव बिन्दु ज्ञान के बलपर वे नकल करें, यह योग्य नहीं है। ऐसे संत आने वाले समय में स्थूल भद्र स्वामी की नकल करने लगे कि उन्होंने कोशा के यहां चातुर्मास किया, हम क्यों नहीं कर सकते? उन्हें ध्यान में लेना चाहिये कि उस समय भी उनकी देखा-देखी करने वाले साधु का क्या हश्र हुआ? अतः साधुओं को महाज्ञानी-महागीतार्थी की देखा-देखी नहीं करनी चाहिये। उन्हें अपनी मर्यादा में ही रहना चाहिये। स्थविर कल्पी मुनियों के लिए जो सभाचारी हैं, आगम-निर्देश हैं, उन्हीं का उन्हें पालन करना चाहिये। पूर्वाचार्यों के नाम से अपनी क्रियाओं को, अपने व्यवहार को सिद्ध करने का आत्मघाती प्रयत्न नहीं करना चाहिये। वैसा करने से हम उन महापुरुषों की मूल्यवत्ता को हानि पहुँचाने के अलावा और क्या कर सकते हैं।

आज हम अन्तरावलोकन करें कि हम जो कर रहे हैं उसमें हमारा क्या लक्ष्य है? कहीं हम लोकेषणा, आत्म-प्रतिष्ठा के कारण तो वैसा व्यवहार नहीं कर रहे हैं? हम आगमोंके आदर्श में झाँक कर देखेंकि हमारे क्रिया-कलाप कितने आत्म हितकर हैं? हम साधु बने हैं, हमारी साधुता बनी रह जाय, यही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिये।

सम्मं भुयाइं पासओ

जिन व्यक्तियों को हम देख रहे हैं, उनमें अनेक विविधताएँ हैं। रंग-रूप डील-डौल में तो अन्तर है ही, अनुभव भी सब के भिन्न-भिन्न हैं। इन सारी भिन्नताओं का कारण जीव द्वारा उपार्जित कर्म है। कर्म के कारण जीव में विकार आया, भिन्नताएं बन गई। विकार दूर होते ही समग्र आत्माओं में समान रूप नजर आयेगा। कोई भिन्नता नहीं रहेगी। यह ज्ञान दृष्टि है। इस प्रकार का अनुभव ज्ञान दृष्टि से ही संभव है। ज्ञान दृष्टि तर्क से नहीं अनुभव से, अनुप्रेक्षा से प्रकट हो पाती है। ज्ञान दृष्टि की पहचान पहले स्वयं को जानना है। जो स्वयं का ज्ञाता बन गया, जिसने स्वयं को जान लिया, दुनियाकी समग्र आत्माएं, उससे अनभिज्ञ नहीं रह सकतीं। उनके कर्म-विकार उससे अबूझ नहीं रह सकते। वह स्व-संवेदन के धरातल पर स्पष्ट जान पायेगा कि जैसे मेरे में कर्म विकार है वैसे ही सभी संसारी आत्माएं कर्म से अनुरंजित हैं। सभी में कर्म कार्य है। अधिकांशतः कर्म प्रेरित हैं। मुझे उनके कर्मों पर नहीं मूल स्वभाव पर ध्यान देना है। मूल रूप में देखने पर सबका सही स्वरूप ज्ञात हो पायेगा। यदि कर्म जन्म स्थितियों पर ही ध्यान बना रह गया तो आत्मा के मूल शुद्ध स्वभाव को जान पाना संभव नहीं होगा। स्वर्णाभूषणों में स्वर्ण है किन्तु अभी उसका रूप आभूषणों के रूप में नजर आ रहा है। आभूषणों को आगादि में तपाये जाने पर उनमें रहे हुये शुद्ध स्वर्ण को आसानी से जाना जा सकता है। जो स्वर्ण मिट्टी में पड़ा हुआ है, उसे भी शोधन प्रक्रिया से शुद्ध किया जाता है। मिट्टी अलग होते ही स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। ऐसा ही स्वरूप कुछ कर्मों से बंधी हुई आत्माओं का है। कर्मों के कारण उनका रूप भिन्न-भिन्न बना हुआ है। कर्मों के अलग होते ही आत्मा अपने रूप में आ जाती है, जो सबका समान रूप है, कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि देह धारियों में हम उस रूप को देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं तो समझना चाहिये हम आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर पाये हैं, अन्यथा अभी हमें उस ओर और प्रयत्न करना जरूरी है। सव्व-भुयप्प भुयस्स, सम्मं भुयाइंपासओ का रूप हमारे अन्तरमें हम जागृत करने का पुरुषार्थ करें।

स्वान्तः सुखाय हो अपनी चर्या

हम अपनी दैनिक चर्यापर ध्यान दें कि वह चर्या स्वान्तः सुखाय हो रही है या उसमें अन्य भी कोई भाव होता है? हमारी कितनी चर्या यथार्थ होती है? कितनी दिखावेके रूप में होती है? हम यह भी समीक्षण करें कि हमारी कितनी चर्याएं उपयोग पूर्वक हो रही हैं और कितनी चर्याएं 'ओध' से हो रही होती हैं? जब हम उक्तविषय की समीक्षा करेंगे तो हमें आश्चर्य होगा कि हमारी बहुत सारी चर्याएं तो एक सांचे में ढली हुई के समान होती हैं। जैसे ही तिकखुतो करने लगते हैं हाथ घूमने लगते हैं उस ओर हमारा उपयोग होता है, पूर्ण रूपेण? यह तो केवल एक चर्या है। इसी प्रकार चलने-खाने आदि समग्र क्रियाओं पर हम दृग्पात करेंगे तो ज्ञात हो पायेगा कि हम कितनी चर्याएं उपयोग पूर्वक और स्वान्तः सुखाय भाव से करते हैं और कितनी क्रियाएं यूं ही होती रहती हैं। जब हमारी चर्या स्वान्तः सुखाय होने लगेगी तो उसमें दूसरों को प्रभावित करने की भावना पैदा नहीं हो पायेगी। हमें लगेगा कि हम जो भी कर रहे हैं अपने लिए कर रहे हैं। उन चर्याओं का प्रतिसाद हमको ही मिलने वाला है। दूसरा कोई प्रभावित हो रहा है, कोई प्रेरणा दे रहा है, उससे कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। उस समय हमें दूसरों को न हीलुभाने की आवश्यकता होगी और न हमें किसी की प्रेरणा की ही जरूरत होगी। हम स्वात्म प्रेरित कार्य करते रहेंगे। कर्तव्य हमारे सम्मुख होगा। हमारे कदम उसे पूर्ण करने में गतिशील होंगे। मैं उस समय की याद दिलाना चाहता हूँ जब भगवान महावीर सिद्ध बन गये, मुक्त हो गये। गणधर गौतम को किसने प्रेरित किया कि उठ तू भी उस दिशा में बढ़ा कदम। उनकी आत्मा ने ही उनको प्रेरित किया। वस्तुतः जब हम स्वान्तः सुखाय भाव से चूक जाते हैं, खिसक जाते हैं, तब हमको लगता है कि हमें कोई सहारा दे, प्रेरित करे, प्रोत्साहित करे। यह भावना एकदम गलत नहीं है, किन्तु इस पर मैं इतना कहना चाहूंगा, हमारी मानसिकता ऐसी न बने। हमारी आकांक्षा व अपेक्षा ऐसी न बने। यदि हमने उसे आकांक्षा या अपेक्षा का रूप बना लिया तो हम अपने लक्ष्य से भटक जायेंगे। हमारी स्वान्तः सुखाय की भावना गौण हो जायेगी, तिरोहित हो जायेगी। उस समय आत्म-रंजन के बजाय मनोरंजन, पर रंजन के भाव मुखर हो उठेंगे। ऐसा होना उचित नहीं है।

तरीके ईजाद करो

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न वर्तमान कालिक नहीं हैं। दीर्घ भूत में भी प्रयत्न होते रहे हैं। आत्मा को सिद्ध करने से आत्मा के होने का तो विश्वास हो सकता है, पर उससे अनुभूति हो जाये यह पूर्ण रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुभव तर्क से नहीं संवेदन से जुड़ा हुआ प्रसंग है। संवेदन वह तथ्य है जिसे बिना तर्क के जाना जा सकता है। हृदय की धड़कन का जैसे संवेदन होता है, अनुभव होता है, वैसे ही आत्मा की अनुभूति होती है।

दार्शनिक जगत ने आत्मा को स्वीकार तो किया ही है, फर्क उसके स्वभाव के विषय में है। कोई कूटस्थ नित्य मानता है तो कोई उसे क्षण विनाशी मानता है। कोई आत्मा को अलग-अलग इकाई के रूप में मानता है तो कोई आत्मा को एक ही ब्रह्म रूप में स्वीकार करता है। इस संदर्भ में विचार करें तो कूटस्थ नित्य मानने वाला आत्मा के द्रव्य को देख रहा होता है। क्षण विनाशी उसके पर्याय को आत्मा मान रहा है। यथार्थ द्रव्य बिना पर्याय के हो नहीं सकता और पर्याय द्रव्य रहित प्राप्त नहीं हो सकती। मात्र द्रव्य या पर्याय को मानना दूसरीतरफ से आँखमूंदने जैसी बात है। दूसरीतरफ से बिना आँखमूंदे जो कथन होता है उसमें पदार्थ की एक अवस्था का कथन करते हुए दूसरी अवस्था का अपलाप नहीं किया जाता, अपितु दूसरी अवस्था को उस समय अकथनीय माना जाता है। इस प्रकार का कथन वस्तु पर प्रत्येक एंगल से विचार करने का प्रयत्न करता है। उसका विचार वस्तु स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन का होता है। जैन दर्शन ने उसी विधा से नित्या-नित्य जैसी अवस्थाओं का सम्यक समाधान प्रस्तुत किया है, जो पूरे जगत को सोचने की दृष्टि देता है।

आत्मा भी पदार्थ है। उसे एक ही एंगल-प्रकार से कैसे निर्णीव किया जा सकता है। उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचारना जरूरी है। उससे आत्मा के सम्यग्स्वरूप का बोध हो सकेगा। साथ ही संवेदन-अनुभव की दिशा में भी लक्ष्य बन सकेगा।

तेरी किस्मत तेरे हाथ

अंगुलीमाल, रोहिणेय, प्रभव कैसे खूंखार बन गये व कैसे संत बन गये ? यह एक पहेली है। उस पर जब विचार करते हैं तो सामान्यतः हम बहुत हल्के स्तर पर पहुँच पाते हैं। हम यह मानते हैं कि शोषणादि परिस्थितियों ने उन्हें आतंकी बना दिया और महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर एवं प्रशमरस से अनुरंजित जम्बू कुमार के उपदेश से वे संत बने। उक्त कथन कल्पित नहीं है, पर पूर्ण सत्य भी नहीं है। सत्य का एक पार्ट है। उक्त सभी निमित्त हैं, संयोग हैं। मूल में व्यक्ति का स्वयं का उपादान होता है। वर्तमान मनोविज्ञान की भाषा में विचार करें तो हम अपने भीतर जैसी तस्वीरें बनाते हैं हम वैसे बनते जाते हैं। यह बात मनोविज्ञान अब मान रहा है। आत्म-ज्ञानियों ने इसे बहुत पहलेसे स्वीकार किया है। उनका कहना है कि **“जो व्यक्ति, जिसका मन जिस पदार्थ में गहरा लगा हुआ है, उस समय वह तद्रूप है।”** व्यक्ति जैसा-जैसा सोचता है, वह वैसा-वैसा बनता जाता है। अंगुलीमाल हो या अन्य कोई वह अपने भीतर अपने अनुभवों के आधार पर या यों कहें कि उन अनुभवों को आकार देता जाता है एवं उसी के आधार पर वह आने वाले समय में घटने वाली घटनाओं का आकलन करता जाता है। उन अनुभवों की तस्वीर को गहरा बनाता जाता है। यदि वे संत भी बने हैं तो बाह्य संयोग जिनका भी रहा हो, पहले उन्होंने उन सस्कारों को अवचेतन मन तक पहुँचाया है। परिणामस्वरूप अवचेतन मन शीघ्र उन पर काम करने लगा एवं सुधार की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। यह सुधार कभी इतना त्वरित होता है कि व्यक्ति समझ ही नहीं पाता कि उसमें एक दम परिवर्तन कैसे आगया ? यह बात निश्चित है कि जब हम अन्तर से परिवर्तन चाहते हैं तब ही बाहर में बदलाव घटित होता है। (अर्जुनयुद्ध प्रांगणमें परिजनों पर शस्त्र चलाने को तैयार नहीं होता है। वह सोचता है ये अपने हैं। अपनों की तस्वीर भीतर में काम कर रही थी, इसलिए वह शस्त्र उठा नहीं पा रहा था। पर जैसे ही श्रीकृष्ण के उपदेश से उसकी वे तस्वीरें हटीं, वह युद्ध को तत्पर हो गया।) यही दशा एक गृहस्थ की होती है। जब तक उसके भीतर अपनों की तस्वीरें बनी रहती हैं, वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। जैसे ही वे तस्वीरें वहाँ से हटती हैं, उपदेश-चिन्तन किसी भी निमित्तसे वह उन सबको छोड़ विरक्ति पथ पर बढ़ जाता है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने अवचेतन मन तक सुधार के विचार पहुंचाने में समर्थ हो जाता है तो तत्काल उसमें परिवर्तन घटित होने लगता है।

पीड़ित नहीं प्रेरित हो

व्यक्ति जब दूसरे को जो हम उग्र है, साथी है, उसे कई विषयों में अपने से आगे बढ़ा हुआ देखता है तो उसके मन में उसके प्रति क्या प्रतिक्रिया व्यक्त होती है ? अधिकांश स्थितियों में ऐसे प्रसंग पर व्यक्तिके भीतर एक टीस पैदा होती है, मन में व्यथा होती है कि मैं उससे-उनसे क्यों पिछड़ गया ? वह अपने पिछड़ेपन को व्यक्त नहीं होने देना चाहता। वह चाहता है कि वह सुपर दिखे। उसका पिछड़ापन यदि व्यक्त हो जाता है तो उससे उसको बड़ी पीड़ा होती है। वस्तुतः वह पीड़ा उसके अहंकार को होती है। वह जो सुरक्षा चाहता है, सुपर दिखना चाहता है, वह उसकी नहीं उसके अहंकी चाहत होती है। उस चाहत को पूरा करने के लिए वह दांव भी खेलता है, पर वे उसे समाधान नहीं दे पाते, बल्कि समस्या और अधिक बढ़ती जाती है। **‘ज्यों-ज्यों उपचार किया, रोग बढ़ता गया’** उक्ति उसपर चरितार्थ हो जाती है। यथार्थ में उपचार हुआ ही नहीं। वह जिसे उपचार मानता है वह उपचार न हो कर अपचार हो रहा है। वह पथ्य नहीं, अपथ्य का आसेवन कर रहा होता है। अपथ्य सेवन से उसका मर्ज कैसे घट सकता है ? कैसे दूर हो सकता है ? उसे तो बढ़ना ही है और वह बढ़ता जाता है। ऐसा व्यक्ति हर संभव स्थिति में अपने अहं को ऊपर रखने का मानस बनाये रखता है। यदि वह कभी नम्र रुख अख्तियार भी करता है तो उसे भी वह अपने अहं पोषण के लिए ही कर रहा है, ऐसी पूर्ण संभावना है। इससे बचने का सही उपाय है कि अपने अहं का रक्षण मत करो। दूसरों में यदि योग्यता विशेष है तो उससे पीड़ित नहीं होना, अपितु प्रेरित होना चाहिये। यदि प्रेरणा ले सकेगा तो वह अपना प्रोग्रेस, विकास कर पाने में अपने व्यक्तित्व को निखारने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा उसकी सारी सोच अहं रक्षण के इर्द-गिर्द ही घूमती रहेगी। वह उसी में फंसा हुआ रह जायेगा। आत्म विकास उसके लिए दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य है। मेरी भावना में कहा गया है उस पर विचार करें, **‘देख दूसरे की बढ़ती को कभी नईर्ष्या भाव धरुं’** दूसरे को देखकर अपने में ग्लानि मत आने दो। स्वयं को दोषी मत मानो। उससे प्रेरणा ले प्रकर्ष को प्राप्त करो।

आत्म अविश्वास घातक

आत्म-सुधार के क्षेत्र में सबसे बाधक तत्व है आत्म-अविश्वास। कई व्यक्ति विश्वास ही नहीं कर पाते कि हमारे में बदलाव हो सकता है, हम अपनी आदतों को सुधार सकते हैं। उन्हें अपने भूत पर दृष्टि डालनी चाहिये, जब वे बचपन में थे। वे किशोर व युवा बने, क्या उन-उन अवस्थाओं में उनमें कोई बदलाव नहीं आया ? शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसमें रती भर भी परिवर्तन न आया हो। सामान्यतया बदलाव आता ही है। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता है, वैसे-वैसे हमारे में सुधार भी होते जाते हैं। कुछ सुधार स्वयं होते हैं, कुछ परिस्थितियों से भी होजाते हैं, वे आत्म संतुष्टि कारक नहीं होते, किन्तु जो आत्म-चिन्तन पूर्वक प्रबल इच्छा शक्ति से लबरेज हो, अपना बदलाव करने को उद्यत होता है वह कम समय में बहुत अधिक स्वयं में होने वाले परिवर्तन का अनुभव कर सकता है। संशय में पड़ा रहने वाला व्यापारी विशेष लाभ हासिल नहीं कर पाता। संशय में बने रहने वाला सफलता के किनारों का स्पर्श नहीं कर पाता। संशय शील व्यक्ति स्वतः लड़खड़ाता-भटकता रहता है। वह शरीर से भटके या नहीं किन्तु मन से वह डोलायमान बना रहता है। दो कदम आगे बढ़ाता है तो वापस दो पांव पीछे खिसकता रहता है। अतः वह वहीं का वहीं अटका रहा जाता है। उसको वहाँ अटकाए रखने वाला उसका आत्म-अविश्वास ही मुख्य है।

व्यक्ति को चाहिये कि वह आत्म-सुधार के कार्य में पूर्ण विश्वास रखे। यदि कभी सफल न भी हो तो उसे यह नहीं विचारना चाहिये कि सफल हुआ ही नहीं जा सकता। हो सकता है हमारे प्रयत्न में थोड़ी कमी रही हो। ऐसा भी हो सकता है कि हम ऊपर से विश्वास झलकाते रहे हों किन्तु अन्तर में कुछ अनिश्चय जैसा बना रहता हो। **'कर तो रहा हूँ होगा या नहीं'** इस प्रकार के विचार बनते रहे हों। इस प्रकार के विचारों से हमारी सोच हमारे लिए ही अस्पष्ट बनी रहती है। परिणामस्वरूप उस पर जैसा चाहिये सकारात्मक गमन द्रुत गतिसे नहीं हो पाता। अतः उचित है कि हम अपने विचारों को स्पष्ट करें। क्या-क्या सुधार करना है, उसको नोंद लें। उन पर कैसे कार्य करना है, उसे निर्धारित करें एवं सफलता की राह पर आगे बढ़ चलें।

गर्व गलाता ज्ञान

ज्ञानी को गर्व होता नहीं है। ज्ञान जितना गहरा होगा व्यक्ति उतना ही धीर-गंभीर होता चला जायेगा। छलकना अल्प में ही होता है। **'पूर्ण घटो न करोति शब्दम्'** पूरा भरा हुआ घड़ा शब्द नहीं करता। ज्ञानी भी पूर्ण हो तो शब्द-गर्व करने का कोई तुकही नहीं है। गर्व करने की बात ही क्या है ? वहाँ उत्कर्ष पनपता ही नहीं। वह भूमि गर्व के लिए बन्जर है। बन्जर भूमि में फसल होगी ही कैसे। वस्तुतः ज्ञान-आत्मा के निकट ले जाता है। आत्मा के समीप पहुँचने पर उसमें अन्यथा भाव पैदा होगा भी कैसे ?

ज्ञान का तात्पर्य क्या ? क्या कुछ थोकड़े, शास्त्र कण्ठस्थ कर लेने से ही कोई ज्ञानी हो जाता है ? यदि ऐसा हो तो ज्ञानी क्यों नहीं हो सकते ? वे भी तो नौ पूर्वो से ज्यादा ज्ञान अर्जित कर लेते हैं, लेकिन उन्हें हम ज्ञानी नहीं कहते। आखिर क्यों ? हम कह सकते हैं कि उन्होंने मिथ्यात्वको छोड़ा नहीं या मिथ्यात्व उनसे छूटा नहीं। अतः वे ज्ञानी नहीं हो सकते। यद्यपि अक्षर ज्ञान की दृष्टि से वे भी ज्ञानी हैं किन्तु ज्ञानी के लिए केवल अक्षर ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। उसके लिए अलग से कसौटी निर्धारित है, जिस पर कसे जाने पर ही वह ज्ञानी सिद्ध हो सकता है। वह कसौटी है आत्म-अनुभूति की। आत्म-अनुभूति जिन्होंने पाली वे ज्ञानी होते हैं। अपनी पहचान ज्ञानीके लिए जरूरी है। आत्म-परिचय के बिना बाहरी ज्ञान कितना भी हो उससे ज्ञानी बनने की शर्त पूरी नहीं हो पाती है। ज्ञानी बनते ही उसकी जीवन चर्या परिवर्तित हो जाती है, जैसे सम्यक्त्व आते ही अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हो जाता है। उसके दूर होते ही जीवन सरलता की तरफ बढ़ने लगता है। अतः ज्ञान और गर्व का पारस्परिक मेल ही नहीं है। यदि कोई ज्ञान का गर्व करता है तो समझना चाहिये कि अभी सागर की गहराई में वह नहीं उतर पाया है। वह अभी मात्र लहरों में जी रहा है। सागर की गहराई में उतरे बिना सागर को क्या जाना जा सकेगा ? वैसे ही आत्मा की गहराई को जाने बिना ज्ञानी हो नहीं सकता। अक्षर ज्ञान से भी कई बार देखा जाता है कि व्यक्ति गर्व को गला देता है। जब अक्षर ज्ञान से भी ऐसा हो सकता है तो आत्म-ज्ञान में तो गर्व को कहीं से कहीं अवकाश प्राप्त नहीं हो सकता।

सन्तोष ही तृप्ति है

समुद्र का पानी प्यास बुझाने में समर्थ नहीं होता। यदि कोई पीए तो भले वह पीता ही रहे, उससे प्यास नहीं बुझती। प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों? समुद्र का जल भी है तो पानी ही, फिर वह प्यास क्यों नहीं बुझा पाता? इसका उत्तर यह है कि सारा पानी एक समान नहीं होता। पानी पीने वाले यह अच्छी तरह जानते हैं कि पीया जाने वाला जल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। सारी नदियों का जल भी एक समान नहीं होता। स्वाद व वर्ण आदिमें अन्तर सुस्पष्ट है। अतः सागर का पानी, पानी होते हुए भी पेय नहीं है। उसमें प्यास बुझाने की क्षमता नहीं है, इसलिए उस पानी को कोई इनसान पीता ही नहीं है। यदि पी भी ले तो वह उससे प्यास बुझा नहीं पाता। प्यासा व्यक्ति यदि नासमझीसे पीले तो उसका कण्ठ गीला हो सकता है किन्तु प्यास नहीं बुझती। वैसी ही दशा धन व नाम के चाह की है। धन और नाम आदमी को जितना मिलता जाता है उसकी प्यास भी बुझने के बजाय बढ़ती जाती है। मजे की बात यह है कि समुद्र के पानी को व्यक्ति पीना नहीं चाहता, पीता भी नहीं है लेकिन धन और नाम की चाह का पानी पीने से चूकता नहीं है। यद्यपि पीने के बाद भी उसे शान्ति-समाधि मिलती नहीं है। तृप्ति भी होती नहीं है फिर भी पीने से पीछे नहीं हटता, पीने को तत्पर रहता है। चक्रवर्ती की ऋद्धि भी मिल जाय तो भी तृप्ति हो नहीं पाती। जैसे उर्दाध का सारा पानी कोई पीले तो भी उसकी प्यास ज्यों की त्यों रहेगी ठीक वैसे ही विश्व की सारी दौलत मिल जाय, सब तरफ नाम की गूंज हो जाय तब भी उसकी प्यास बुझना कठिन है। वह चाहेगा ओर मिले। उसके पीछे भागने वाला आज तक कोई सुखी नहीं है, यह सर्व विदित है या यों कहें कि प्रायः विदित है। फिर भी लोग उसके पीछे दौड़ते नजर आते हैं। उसमें कैसा रस है, यह तो वे ही लोग जान सकते हैं जो उसे चखते हैं, पर शायद उसमें रस होगा नहीं। यदि रस होता तो उनकी प्यास क्यों नहीं बुझती? प्यास बुझाने का एक ही उपाय है। वह है सन्तोष। **‘जब आए संतोष धन सब धनधूरि समान’**। इसी प्रकार कहा जाता है **‘संतोषी सदा सुखी’** वस्तुतः संतोष ही तृप्ति है।

अन्यों से सुख-दुःख असम्भव

जब तुम अपना सुख-दुःख दूसरे के हाथ सौंप देते हो तब तुम्हें दुखी होना ही है। सुखी होने की कल्पना करना भी व्यर्थ है। दूसरे के हाथ सुख-दुःख सौंपने का तात्पर्य यह है कि अन्यके कारण दुखी या सुखी होते रहना। जब किसी ने अनुकूल व्यवहार किया तो सुख का वेदन करना, उसके विपरीत किसीने यदि प्रतिकूल व्यवहार किया तो दुख का वेदन करना। दूसरा क्या कर रहा है, उसकी क्या प्रतिक्रिया है, वह किस लहजे में बोल रहा है, इस प्रकार के व्यवहार को ही यदि सुख या दुख का आधार माना जायेगा तो सुख कहाँ से मिल पायेगा। जिसे सुख माना जा रहा है वह भी तो यथार्थ नहीं है, सुखाभास है। सुखाभास में सुख की कल्पना सीप में रजत की कल्पना के समान है। ऐसा आभास व्यामोहितावस्था से होता रहता है। होता है। जब तक व्यक्ति व्यामोहित बना रहेगा वह सुख के सही स्वरूप को समझ ही नहीं पायेगा। सुख अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनों में सम रहने से प्रकट होता है। लाभ हो या हानि, निन्दा हो या प्रशंसा, इनमें एक रस रहना, समान रस का अनुभव करना सुख है, जो नितान्त आत्म-निष्ठ है, स्वयं से ही स्वयं में प्रकट होने वाला है। कभी भी दूसरों से नहीं मिल सकता। अन्यों से अपेक्षा रखना दुःख को ही आमन्त्रण देना है। जब अन्य से वह प्राप्त हो ही नहीं सकता तो अन्य से उसकी क्यों अपेक्षा करना। पत्थर-मिट्टी से बनी गाय से कोई कितनी भी अपेक्षा करे क्या वह दूध पासकता है? कभी नहीं। जैसे पत्थर की गाय दूध नहीं देती वैसे ही अन्य से कभी भी सुख नहीं मिल सकता, यह निश्चित है। अतः दूसरा क्या कर रहा है, उससे तुम सुख या दुख का संवेदन मत करो। तुम स्वयं स्वतंत्र हो। तुम्हारे अन्तर में भी वह अनन्त शक्तिशाली चैतन्य विराजमान है, इसलिए तुम्हें किसी अन्य की ओर मुखातिब होने की कोई जरूरत नहीं है। अन्य के साथ जो भी सम्बन्ध हैं वे संयोगज हैं। कब बिखर जायें कोई भरोसा नहीं। आये दिन संयोग को वियोग में बदलते देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अन्य से अपेक्षा कथमपि उचित नहीं है।

कठिनाई में कायर नहीं वीर बनें

कठिनाइयों में मन को कमजोर मत होने दो। कठिनाइयाँ हमारी सुप्त शक्तियों को जागृत करने वाली होती हैं। घाटी पर चढ़ाई के समय गाड़ी को जैसे गीयर में लेना होता है, वैसे ही कठिनाई के समय हमारा जोशद्विगुणित (दुगुना) नहीं अनेक गुणित (गुना) होना चाहिये। यदि मन को कमजोर करके बैठ गये तो क्या कठिनाई दूर हो जायेगी? कभी नहीं। कठिनाइयों को तो पार करना ही पड़ेगा। जब कठिनाइयों को पार करना ही है तो अपने जोश को बढ़ाकर उसपर सफलता पाएं। शक्ति हमारे भीतर मौजूद है। हम उपयोग में लेते हैं, तो वह कार्यरत हो जाती है अन्यथा यूं ही व्यर्थ हो जाती है। कई ऐसे लोग संतों के पास आते हैं जो कभी विशेष पैदल चले नहीं थे पर संतों के साथ दस-पन्द्रह किलोमीटर चल लेते हैं। वह शक्ति उनमें कहाँ से आई? शक्ति उनमें ही थी। संतों ने दी नहीं थी। जैसे-जैसे चलते गये शक्ति भी बढ़ती गई। गाड़ी में रहा हुआ 'डाइनामो' गाड़ी चलने से चलता है, उससे बैटरी चार्ज हो जाती है। वैसे ही कार्य करते रहने से शक्ति बढ़ती रहती है। जैसे कार्य, जैसी कठिनाई हमारे समक्ष आती है उन्हें पार करने की शक्ति भी हमारे में होती है। हम मन कमजोर कर लेते हैं तो शक्ति जम नहीं पाती। इससे विपरीत यदि मन सशक्त बना लेते हैं तो हम कठिनाइयों पर जयपाने में समर्थ हो जाते हैं। भगवान महावीर ने कठिनाइयों की चुनौतियों को स्वीकार किया, वे घबराये नहीं। फिर हम क्यों घबराएं। ध्यान रहे, कठिनाइयाँ जब भी आती हैं हमें कुछ सिखाती जाती हैं। कठिनाइयों के मुकाबले से जो मिलने वाला है, वह सुविधा में बैठे रहनेया सुविधा को चाहने से मिलने वाला नहीं है। कठिनाइयों से जो मिल सकता था हमारी कमजोरी से ही हम उससे वंचित रह जाते हैं। अतः चाहे कैसीभी कठिनाइयाँ क्यों न आ जाएं हम उससे विचलित नहीं होंगे। ऐसी भावना अपने भीतर दृढ़-सुदृढ़ बनानी चाहिये। यह भी ध्यान रहे सुविधा हमारी ऊर्जा-शक्तियों को लील लेती है, जबकि कठिनाई हमारे भीतर सुप्त शक्तियों को भी जागृत कर देती है। इसलिए कठिनाइयों से कभी मुंह नहीं मोड़ें, बल्कि उसकी चुनौतियों को स्वीकार करें।

मंगल रूप अपनाता चल

कार्तिक विक्रमी संवत् एवं वीर संवत् के रूप में आज को नये दिन के रूप में स्थापित किया जाता है। धर्म की बागडोर आचार्योंके हाथों आने से भी आज के दिन का महत्व है। तीर्थकरों की अनुपस्थिति में उनके शासन का वहन आचार्यों द्वारा हुआ करता है। गणधर सुधर्मा स्वामी आजके दिन गणाधिप-आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। अतः एक नये युग का सूत्रपात हुआ, ऐसा कह सकते हैं। यद्यपि दिन तो रोज ही नया होता है, क्योंकि आज जो सूर्य दिन को उगाता है वह पुनः कल नहीं आता। लेकिन नये दिन की अवधारणा व्यक्ति की श्रद्धा से जुड़ी हुई होती है। बहुतों के लिए आज का दिन सामान्य भी है। नये दिन को लोग खुशियों से मनाना चाहते हैं, पर खुशियों का राज ज्ञात नहीं होने से वे आमोद-प्रमोद, इन्द्रिय-विषयों के पोषण में ही समय व्यतीत कर देते हैं। इन्द्रिय-विषयों से प्राप्त होने वाली खुशीक्षणिक होती है। उससे लम्बे समय तक हमारी झोली भरी रहसकती। खुशियों से झोली भरनीहैतो वे खुशियाँ मंगल से प्राप्त हो सकती हैं। मंगल धर्म रूप है। धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है और धर्म हैअहिंसा-संयम-तप। इनसे आत्मा को भावित करने से आत्मा में क्षमा, मृदुता, सहजता, सरलता, निर्लोभता, सहिष्णुता आदि गुणों का प्रकटीकरण होता है। परिणाम स्वरूप कठिनाइयों के झेलने का सामर्थ्य हम प्राप्त कर पाते हैं। ऐसा होने पर हम हर वक्त, हर क्षण स्वयं को खुशहाल रख पायेंगे। हमारी झोली कभी भी खुशियों से रिक्त नहीं होगी। जिदगी सदा बहार बनी रहेगी। वस्तुतः नया दिन हमारे संतप्त जीवन को नवीनता देने वाला सिद्ध होगा। इसके लिए हमें औपचारिकताओं को दरकिनार करते हुए सत्यतथ्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। प्रश्न होगा क्या करें? उत्तर-है-यदि कोई तुम्हारा अपकार करे तू उपकार ही करते रहना। यदि कोई अपमान करे तू उसका सम्मान ही करना। कोई तुम्हारी कितनी भी बुराई करे तूबुरा मत बनना, तू किसी की बुराई मत करना। ये कुछ बिन्दु हैं, जिन पर सतत कदम बढ़ाते रहना।

अपना-पराया तुममें समाया

अनेक बार हमें अपने इर्द-गिर्द, पास-पड़ोस वालों से शिकायत होती है। अमुक ऐसा क्यों करता है, वैसा क्यों करता है। हमें अनेक बार उनके क्रिया-कलाप परेशान करने वाले बन जाते हैं। प्रश्न होता है कि ऐसे समय में क्या करें? इनके समाधान के तीन प्रकार हैं- पहला वे मशीन बन जायें, तब हम जैसा चाहेंगे चला पायेंगे। जैसे मोबाइल, कम्प्यूटर आदि को चलाते हैं। दूसरा उपाय है- हम उनके अनुकूल बन जायें। ऐसा होने से हमारी परेशानी बिल्कुल खत्म हो जायेगी। तीसरा प्रकार तटस्थता है, सह अस्तित्व की भावना है। जैसे मुझे जीने के अधिकार प्राप्त हैं, मैं अपनी मस्ती में जीना चाहता हूँ, वैसा ही उन्हें भी जीने का अधिकार है। मुझे उनके जीने के तरीके में बाधक नहीं बनना चाहिये। यदि वे गलत तरीके से जी रहे हों, ऐसा हमें लगे तो हम उन्हें सचेष्ट कर सकते हैं। इसके बावजूद यदि वे उसी डगर पर आगे बढ़ना चाहें तो हमें बेचैन नहीं होना चाहिये। हमारा कर्तव्य हमने निर्वाह किया। यदि हमारे पास अन्य उपाय हों तो हम कर्तव्य भावना से उनका उपयोग कर सकते हैं। यदि कोई उपाय न हो तो दुःखी होने के बजाय हमें तटस्थ हो जाना चाहिये। सारी पृथ्वी पर काँटे बिखरें हों तो भला यही है कि अपने पैरों में जूते-चप्पल पहन लें। इससे बेहतर दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता। यदि कोई कहे ऐसा संभव नहीं है, तो मैं जोर देकर कहूँगा यदि कोई सक्षम-समर्थ उपाय है तो यही है। इससे बढ़कर अन्य उपाय कठिन-किंवा असंभव है। यदि इस उपाय को हम स्वीकार करने को तत्पर न हों तो हमें काँटों के चुभने से होने वाली पीड़ा के लिए भी तैयार रहना चाहिये।

जब अपने ही लगने लगे पराये तुम मत बनना पराया। तुम अपनों को ही नहीं परायों को बनाना अपना। पर ध्यान एक रखना, यहां कोई न अपना-पराया। अपना-पराया सारा तुममें है समाया। तुम रहोगे वे रहेंगे। तुम स्वयं को मिटा दोगे सब मिट जायेंगे।

विश्व का तू सार है

श्रावक! तू पूरे विश्व का विरल है, तू विशेष है। दुनियाँ में तुम्हारी सानी के तुम्हीं हो। जैसे दूध में शक्कर डालने से दूध मीठा स्वादिष्ट बन जाता है, आटे में नमक डालने से रोटी स्वादिष्ट हो जाती है, वैसा ही पूरा विश्व तुमसे स्वादिष्ट है। विश्व में कोई स्वाद है तो तू ही है। यह कथन मात्र प्रशंसात्मक नहीं है, यथार्थ है। जम्बु द्वीप में लवण समुद्र का पानी क्यों नहीं भरता? यद्यपि देवगण उसमें उठती उताल तरंगों को दबाते रहते हैं, फिर भी उनसे वे तरंगें रुक नहीं पातीं। जम्बु द्वीप में रहने वाले त्यागी-तपस्वी, आत्मार्थी-शीलवान आदि के शीलादि के प्रताप से वह पानी जम्बुद्वीप में नहीं आ पाता है। यदि धर्म यहाँ से उठ जाय तो विप्लव मच जाय। श्रावक जो धर्मारथना करता है, उसका उसे तो लाभ मिलता ही है, किन्तु उसकी ज्योतिर्मय किरणों के स्पन्दन से सारा वातावरण प्रभावित होता है। इसलिए श्रावक तू ही विश्व का स्वाद है।

श्रावक का जीवन कैसा होना चाहिये ? उसे आत्मा व शरीर की भिन्नता का बोध होना चाहिये। उसे आत्मा के स्वभाव और विभाव का परिचय होना चाहिये। वह विभाव रूप राग-द्वेष को अपने से दूर करने में प्रयत्नशील रहे। राग-द्वेष, मोह-माया के लेप न लगेँ उसके लिए अपने पर लेमिनेशन जैसी एक परत बनाये रखे। रामलीला में बना राम जानता है कि वह, वह नहीं है, वह केवल औपचारिक है। वैसा ही श्रावक समझे कि वह शुद्ध आत्म स्वरूपी है। वर्तमान में केवल कर्तव्य का निर्वहन कर रहा हूँ। वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं अपने स्वरूप को उजागर कर पाऊँगा। मैं तप-संयम में पुरुषार्थ प्रकट कर पाऊँगा। पिंजरे में पंछी जैसे आनन्द नहीं पाता, उससे निकल खुले आकाश में उड़ान भरने को छटपटाता रहता है, वैसा ही श्रावक भी संसार के सुखों में मोद नहीं मनाता। वह अवसर की टोह में रहता है कि कब वह अवसर आए और वह संसार के ममत्व का छेदन करके मुक्ति पथ पर अग्रसर हो जाए।

सत्ता-सप्तक

जब सत्ता तुच्छ स्वार्थों को साधने में संलग्न हो जाती है तब उससे महत्वपूर्ण साध्यों की अपेक्षा करना व्यर्थ है। सत्ता वह सार्थक होती है जो सबके हित को साधने में तत्पर रहती है। सत्ता का लाभ किसी व्यक्ति या समुदाय तक सीमित नहीं होना चाहिये। उसका लाभ अंतिम पंक्ति तक पहुँचना चाहिये।

सत्ता का गर्व करना नासमझी है। सत्ता का कोई पता नहीं वह आज है कल किसके हाथों चली जाय। सत्ता प्राप्ति के बाद भी अपनी सात्विकता को गुम नहीं होने देना चाहिये। यदि दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो सात्विकता को ही चुनना।

सत्ता का उपयोग सम्पत्ति बटोरने के लिए नहीं होना चाहिये। उसका सही उपयोग सेवा है। यदि सत्ता मिली है तो जन-जन की सेवा में उसका उपयोग करो। ऐसा करना बहती गंगा में हाथ धोने के समान है।

सत्ता को पकड़ने का प्रयत्न मत करना। तुम्हारा व्यवहार ऐसा हो कि सत्ता घूम-फिर कर तुम्हारे ही पास आए। तुम यदि उसे ठुकराओ तब भी वह तुम्हें ही चाहे। तुम उसकी चाह मत करना। तुम चाहने लगोगे तो वह दूर भागने लगेगी।

सत्ता यदि प्राप्त हो तो सावधान रहना जरूरी है। सत्ता वह दलदल है जिसमें लोग फंस जाया करते हैं। सत्ता में घुसना जानते हो तो उससे निकलने का गुर भी आना चाहिये। सत्ता में फंसकर स्व-सत्ता विस्मृत न हो जाय।

सत्ता के लिए सत्व का होना जरूरी है। यदि सत्व नहीं होगा तो सत्ता हावी हो जायेगी। सत्वशील व्यक्ति सत्ता को अपने पर हावी नहीं होने देता। सत्ता जब व्यक्ति पर हावी हो जाती है तो वह उसे बावला बना देती है।

सत्ता के सौन्दर्य को देखो तो उसकी कुरूपता को भी देखना। ऐसा न हो कि केवल उसके सौन्दर्य में ही मुग्ध हो रह जाओ। सत्ता का जितना सौन्दर्य है उसकी कुरूपता उससे भी बदतर है।

समुदाय सशक्त हो

संघ, समाज, समुदाय सशक्त होना चाहिये। सशक्तिकरण के लिए अनुशासन बहुत जरूरी है।

अनुशासन के लिए एक अनुशासनता का होना जरूरी है। अनेक शासक हों तो अनुशासन बराबर रह नहीं पाता। समुदाय की विशालता से शासकों की संख्या बढ़ सकती है। मुख्य नियन्ता एक ही होना चाहिये। एक नियन्ता होने से सबको समान दिशानिर्देश मिलेगा अन्यथा कोई कुछ निर्देश देगा तो कोई कुछ अन्य ही। वैसी स्थिति में अनुशासन में जो एकात्मकता आनी चाहिये वह नहीं आ पायेगी। एकात्मकता के लिए एक श्रद्धा, एक प्ररूपणा होना जरूरी है। वह तब होगी जब सबकी धारणा एक समान होगी। एक सूत्र में पिरोये गये मोती माला का रूप ले लेते हैं। वैसे ही एक अनुशासन के सूत्र से सम्बद्ध समुदाय, संगठन का रूप ले लेता है। समुदाय की सुदृढ़ता के लिए प्रत्येक सदस्य को समुदाय के अंग होने का अहसास होना चाहिये। समुदाय के प्रति उसका क्या कर्तव्य है, उसके प्रति उसे सजग रहना चाहिये। एक सूत्र में पिरोये मोती जैसे बिखरते नहीं हैं वैसे ही एक सूत्रात्मकता से जुड़ाव होने पर समुदाय भी बिखर नहीं सकता। वह सूत्रधारणा आदि के साथ आत्मीय भाव भी है। समुदाय के प्रति प्रत्येक सदस्य का आत्म-भाव सघन होना चाहिये। वह तभी संभव है जब उसे उस समुदाय से जुड़े हुए होने का मनस्तोष हो।

यह ध्यान रखें समुदाय के सशक्त-सुदृढ़ होने पर ही धर्म की सम्यक आराधना हो सकती है। समुदाय यदि लंगड़ा हो जायेगा, रुग्ण हो जायेगा तो धर्म की आराधना सुव्यवस्थित कैसे होगी। समुदाय को रुग्ण करने वाले अंग हैं- अहं प्रदर्शन, मान-सम्मान की चाह, समुदाय से बढ़कर स्वयं को मानना, अपना मिथ्या वर्चस्व समुदाय पर थोपना, अपने तुच्छ निहित स्वार्थ को महत्व देना। इस प्रकार के तत्व न समुदाय को सुदृढ़ होने देंगे न धर्म का विकास ही। इसलिए यदि ये तत्व प्रकट होने लगें तो तत्काल उनका उपचार होना चाहिये। उनको पनपने नहीं देना चाहिये। उसके लिए समुदाय के प्रत्येक सदस्य को जागरूक रहने की आवश्यकता है।

आँख की किरकिरी मत बनो

गृहस्थ वर्ग में जिस प्रकार से दिखावा-प्रदर्शन बढ़ रहा है, वह अत्यन्त चिन्ता का विषय है। दिखावा उसे कहा जाता है जिसमें होता कुछ और है, बताया कुछ और जाता है। जितना है, उससे ज्यादा दिखाना, दिखावा है। प्रदर्शन में कहीं न कहीं स्वनाम-आत्म गौरव के भाव निहित होते हैं। विवाह-शादी का कार्यक्रम हो या अन्य कोई आयोजन उसमें जो भोंडा प्रदर्शन होता है, वह अन्य लोगों के आँख की किरकिरी बन रहा है। लोग उस प्रदर्शन से भन्नाते हैं। उन्हें लगता है यह वैभव उनका नहीं, हमारा है। हमारे से ही मुनाफा कमा-कमा कर इन लोगों ने यह धन इकट्ठा किया है। सावधान! ऐसी भावना का प्रतिफल क्या हो सकता है, इसे अभी से ध्यान में ले लेना चाहिये। वक्त बीत गया तो हाथ में कुछ नहीं रह पायेगा।

उत्क्रान्ति मिशन वर्तमान की जरूरत ही नहीं अनिवार्यता है। उस मिशन से जुड़ने पर दिखावा नहीं होगा। उससे स्वयं को आत्म-शान्ति मिलेगी, दूसरों के भीतर प्रतिशोध पैदा नहीं हो पायेगा। सर्वत्र सुखद-सौहार्द्र भाव का फैलाव होगा। तुम्हारी सोच ही तुम्हारा रक्षण कर पायेगी। राजनैतिक संरक्षण मिलने वाला नहीं है। यदि किसी तरह से मिल भी गया तो उसका भरोसा मत करना। यदि उसके भरोसे रह गये तो कहीं लेने के देने न पड़ जाय। सच्चा संरक्षण तुम्हारा व्यवहार होगा। एक नीति में कहा गया है, अपने इर्द-गिर्द हड़िड़ियों की बाड़ लगाना। यदि वह लगाने में समर्थ बन सकते हो तो बाजी तुम्हारे हाथ में रह पायेगी अन्यथा आने वाला समय क्या रंग लायेगा, यह आने वाले कल में अनुभव किया जा सकता है। वक्त की मांग पर विचार करो। दिखावा-प्रदर्शन बंद करो। खुशियों का इजहार अन्य तरीकों से हो सकता है। उसके लिए प्रदर्शन जरूरी नहीं है। अन्यान्य तरीकों से आत्म-सम्मान भी विशेष होगा एवं आत्म तुष्टि भी। अतः उन तरीकों पर विचार करते हुए अपनी दिशा को तय किया जा सकता है।

पहले हो जीने का ज्ञान

आज ज्ञान पंचमी है। ज्ञान के लिए उद्यम होना चाहिये। स्वयं ज्ञानी बनें, अन्य को ज्ञानवान बनाने का प्रयत्न हो। ज्ञान को बांटो। उसे जन-जन तक कैसे पहुँचाया जा सकता है, इसके लिए प्रयास होना चाहिये। यद्यपि संघीय स्तर पर संस्कार पाठ्यक्रम, धार्मिक पाठशालाएं आदि प्रकल्प चलाये जा रहे हैं फिर भी अभी बहुत अपेक्षाएं हैं। जन भावनाएं आंदोलित होनी चाहिये। सबसे पहले हमें जीवन जीने का ज्ञान होना चाहिये। मैं कौन हूँ ? मुझे कैसा जीवन जीना चाहिये ? यदि स्वयं का ज्ञान व स्वयं जीने के तरीकों से अविज्ञ होंगे तो दूसरों को क्या ज्ञान बांटा जा सकता है। आगमों का ज्ञान तभी उपयोगी हो पायेगा जब व्यक्ति जीवन कला को जान ले। हमारा जीवन व्यवहार सूई की तरह हो जो कपड़े में आर-पार होती रहती है, अटकती नहीं है। हमारे सामने कैसी भी स्थितियाँ-परिस्थितियाँ आ जाएं हम उसमें अटके नहीं। उसमें से आर-पार होने का दम-सामर्थ्य हमारे में होना चाहिये। वह जीवन जीने के तौर तरीकों से प्रकट हो सकता है।

हमारा जीवन सहज-सात्विक, सह अस्तित्व के भावों का परिचायक होना चाहिये। जीवन के लिए जितना ग्रहण जरूरी है उससे अधिक विसर्जन की भी आवश्यकता रहती है। उत्सर्जन प्राद्वत है। उसके बिना सही रूप में जीया नहीं जा सकता। जीने की कला आ जाये तो समझो हमने जिंदगी के एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में विजय पाली है। जीवन जीने के कतिपय बिन्दु जीवन को सही दिशा दे सकते हैं। यथा-

1. अपने लाभ में संतुष्ट रहना
2. दूसरों की बढ़त से, आहत नहीं होना
3. संवादात्मक हो जीवन शैली
4. आभिनवेश से दूर रहें
5. कर्त्तव्यों को तय करें
6. आदरणीय भावना को विकसित करें
7. स्पष्टीकरण करने की जरूरत न हो
8. अन्तर द्वन्द्व की स्थिति पैदा न हो
9. स्वीकार से भी त्याग को महत्त्व दें

प्रण वीरां रो शृंगार

त्याग- भाव के प्रति अनुराग होना चाहिये। त्याग की भावना दिनों दिन कैसे बढ़े उसके प्रति प्रयत्नशील रहें। त्याग केवल औपचारिक नहीं हो। उसका सम्बन्ध मन से हो। त्याग का हमारे जीवन के व्यवहार पर प्रभाव पड़ना चाहिये। एक छोटा सा दिखने वाला त्याग भी जीवन में बड़ा चमत्कारिक हो सकता है। उससे जीवन बच सकता है। जीवन किसी बुराई में फंसता-फंसता बच सकता है। वस्तुतः त्याग कोई छोटा होता ही नहीं है। छोटा त्याग भी जीवन में कभी कभी बड़ा परीक्षक बन जाता है। उस समय उस त्याग की महत्ता समझ में आ पाती है।

त्याग का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि जो मेरे जीवन व्यवहार में उपयोग में न आए, उसका त्याग। त्याग का असर जीवन व्यवहार में आना चाहिये। हमारा खाना-पीना आदि सभी खुला है तो उस त्याग का जीवन पर क्या असर हो पायेगा। यद्यपि उसका भी कभी प्रसंग आ सकता है, फिर भी त्याग ऐसा होना चाहिये जिसका हमारे मन पर असर पड़े। चाहे वह खाने-पीने की चीजें हो अथवा मौज-शौक की। प्रतिज्ञा करते हुए मन को उल्लासित रखें। साथ ही प्रतिज्ञा-पालन के समय दृढ़ मन को कोई भी परिस्थिति कमजोर न कर सके ऐसा प्रयत्न रहना चाहिये। यदि उसके लिए तन-धन-जन कुछ भी न्योछावर करना पड़े सहर्ष तैयार रहें। भाव ऐसा रहे कि तन जाए तो जाए मेरा सत्य धर्म न जाए। भले ही तन-धन-जन कुछ भी चला जाय, मेरी प्रतिज्ञा-अक्षुण्ण रहनी चाहिये। रघुकुल रीत सदा चली आई, प्राण जाय पर प्रण ना जाई। प्राणों से भी बढ़कर प्रण-प्रतिज्ञा को मानना चाहिये। वस्तुतः प्रतिज्ञा ही धर्म का प्राण है। तन जैसे भौतिक प्राणों पर टिका रहता है, वैसे ही धर्म-व्रत प्रतिज्ञाओं पर टिके रहते हैं। अतः कठिन से कठिन समय में भी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहना चाहिये।

ताहे बोय तू फूल

तीर्थकर देवों का मन स्फटिक मणि की तरह स्वच्छ-पवित्र होता है। उनके मन में किसी घटना विशेष से कोई विकार पैदा नहीं होता। कोई उनकी कितनी भी स्तुति करे अथवा निन्दा करे उनको उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वस्तुतः होना तो यही चाहिये कि दूसरे के कर्म को हेतु बनाकर हम मन को क्यों मलिन बनायें? लेकिन सामान्यतः प्रवृत्ति ऐसी देखी जाती है कि लोग दूसरों के कथ्य-कृत्य आदि को आधार बनाकर मन को विकारों से भर लेते हैं। इस संदर्भ में एक बात ज्ञातव्य है कि जो शूर-वीर होते हैं वे स्त्री या किन्नर पर शस्त्र नहीं उठाते। उन पर शस्त्र उठाना वे अपनी वीरता को लांछित मानते रहे हैं। जैसे वे स्त्री-किन्नर पर हाथ नहीं उठाते वैसे ही समझदार व्यक्ति को किसी भी घटना प्रसंग को हेतु बनाकर मन को मलिन नहीं होने देना चाहिये। जो किसी के प्रति बुराई करता है, वह वीर हो ही नहीं सकता, वह कायर ही होता है। वीर पुरुष किसी का भला तो कर सकते हैं बुरा नहीं। जो बुरा करने वाले होते हैं, उनके वे अनेक गुनाह माफ करते जाते हैं। गुनाह करने वाले के पाप का घड़ा भर जाता है, तो उसे फूटना ही है। वह फूट जाता है। व्यावहारिक धरातल पर अपराधी को दण्डित करने की बात कही जाती है, किन्तु आध्यात्मिक पराकाष्ठा जहाँ होती है, वहाँ अपराधी के प्रति भी मैत्री भाव रहता है। आचार्यपूज्य श्री गणेशलाल जी म.सा. फरमाया करते थे-

‘निन्दक नियरे राखजो आंगनकुटी छवाय’

निन्दक को सदा अपने समीप रखे वह बिना साबुन पानी के हमारे मनरूपी वस्त्र को साफ करने वाला होता है। उसका उपकार मानो कि वह स्वयं कठिनाई मोल लेकर भी हमारी धुलाई-सफाई कर रहा है। गजसुकमाल मुनि को सोमिल ब्राह्मण के प्रति कोई प्रतिद्वेष के भाव पैदा नहीं हुए। हमारा लक्ष्य भी वीतरागता है। अतः उपकारी के प्रति तो उपकार्य भाव हो ही, अपकारी के प्रति भी आत्मीय भाव रहे।

समस्याओं की मास्टर 'की'

समस्या मन की होती है, समाधान भी मन ही है। मन की समस्या के दो कारण हो सकते हैं। पहला आन्तरिक, दूसरा बाह्य। आन्तरिक कारण से लोग उतने समस्याग्रस्त नहीं होते हैं जितना वे बाह्य निमित्तों से समस्याओं को अपने में पैदा कर लेते हैं। अन्य व्यक्तियों के व्यवहार वर्तन को भी मन की समस्या बना ली जाती है, जो कि कहीं से कहीं तक उचित नहीं है। किन्तु मन है जो दूसरों को ज्यादा देखता है। वह जितना दूसरों पर टिका रहता है, उतनी ही समस्याएं दूसरों से जुड़ी हुई वह अपने में पैदा करता है। अमुक ने ऐसा क्यों बोल दिया ? अमुक मुझे गौर करके क्यों देख रहा था ? अमुक के देखने का तरीका ही भिन्न था, आदि आदि कारण बाहर के होते हैं। इन बाह्य कारणों से उद्वेलित होने वाला मन समस्याग्रस्त, खिन्न बना रहेगा। उसे चैन नहीं पड़ता। उसको वे बाह्य कारण परेशान करते रहते हैं, जबकि विचार करें तो बात स्पष्ट है कि बाह्य कारण व्यर्थ है। मन ने उनको क्यों ग्रहण किया। हकीकत में जब मन उन बाह्य निमित्तों पर ही तैरता रहता है तो वह उनसे निर्लिप्त हो ही नहीं पाता। उसे स्वयं में ही यह ढूँढना चाहिये कि वह बाह्य को किस रूप में ग्रहण कर रहा है ? वह जिस रूप में बाह्य को ग्रहण कर रहा है, उसे उस रूप में ग्रहण करने का क्या अधिकार है ? स्पष्ट है वह स्व-निर्मित अर्थों को ही मान्यता देता रहा है। जब तक वह उस प्रवृत्ति को नहीं बदलेगा, उसका समाधान होना कठिन है। हर व्यक्ति से उसे शिकायत हो सकती है। प्रश्न होता है उसे स्वयं से शिकायत क्यों नहीं होती ? उसे स्वयं के विषय में सोचना चाहिये, जबकि वह वैसा नहीं करके दूसरों की चिन्ता ज्यादा करने लगता है। दुनियाके सुधरने का इन्तजार वह करता रहता है, अपना सुधार कर नहीं पाता। उचित यह है कि वह अन्यों के विषय में सोचना छोड़े, अपने को ही अपना विषय बनाये।

आन्तरिक कारण पूर्वकर्मों-संस्कारों से प्रभावित होते हैं। उनका समाधान भी स्वयं से ही हो सकता है। समस्याएं हजारां होंगी, समाधान एक ही है। स्वयं, स्वयं को देखे।

मनो-मन्थन से अमृत घट

समुद्र मन्थन का विवरण वैदिक संस्कृति में प्राप्त है। वस्तुतः समुद्र मन्थन हुआ या नहीं, कह नहीं सकता। समुद्र मन्थन को प्रतीक मानते हुए मनोमन्थन करना चाहिये। समुद्र मन्थन से पहले विष बाद में काम्य रत्नादि निकले, वैसे ही मनोमन्थन में पहले पहल विषय का विष मिलता है। बाद में कुछ-कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। यदि प्रारम्भिक दौर में ही साधक रुक जाय तो वह विषयों का विष ही प्राप्त कर पाता है। उसके पश्चात अनेक सुप्त कामनाएं जाग्रत होती हैं। वे एक प्रकार से सिद्धियों का रूप बनकर उभरती हैं। उन कामनाओं में साधक को उलझना नहीं चाहिये। सिद्धियों में भटकने वाला पथ भ्रष्ट हो सकता है। हो सकता क्या एक प्रकार से हो ही जाता है। मूल लक्ष्य को भूल जाता है। यह पथ भ्रष्ट का ही पर्याय है। साधक का लक्ष्य ज्ञानामृत घट प्राप्ति का होना चाहिये। उसकी प्राप्ति तक प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। मन को कमजोर नहीं बनने देना चाहिये। मन, थकान का अनुभव नहीं करे। 'कब सिद्धि मिलेगी, कब तक मैं प्रयत्न करता रहूंगा ?' ऐसे विचार मन में पैदा न हों। इसके विपरीत मन में यह उत्साह रहे कि यदि दुबारा भी जन्म लेना पड़े, तब भी मेरा लक्ष्य ज्ञानामृत घट को प्राप्त करने का हो। अधीरता से सफलता नहीं मिला करती। सफलता के लिए पूरी लगन से, बिना थके लगे रहना होता है। डॉ. एल्बर्ट आइंस्टाइन ने मरते हुए भी पूछे जाने पर यह कहा कि अगला जन्म यदि मनुष्य का मिला तो मैं उसे खोजना चाहूँगा जो खोज करने वाला है। कहने का आशय, वे पूरी जिंदगी खोज-अनुसन्धान करते हुए थके नहीं थे। वैसे ही साधक को थकना नहीं चाहिये। ज्ञानामृत घट दृढ़ पराक्रमी, साहसी, धैर्यवान, सहनशील, सत्व-शाली व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकता है। हर कोई उसका पात्र भी नहीं होता। अपात्र के हाथ में आ जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। सदुपयोग कर नहीं पायेगा। अतः समुद्र मथा गया या नहीं उसे गौण करें, मन को मथने में पीछे नहीं रहें। मनो-मन्थन से ही ज्ञानामृत घट मिल पायेगा, ऐसा विश्वास रखें।

भाव प्रबलता सारे काज

भावना जब प्रबलता का रूप लेती है तो वह स्वतः रास्ता भी खोज लेती है। अथवा यूं कहें कि उसे रास्ता मिल ही जाता है। भावना के अनुरूप हमारे भीतर का तंत्र सक्रिय हो जाता है। वह तंत्र बाधाओं को चीरता हुआ मंजिल की तरफ आगे बढ़ता है। दीक्षा लेने की भावना भी जब प्रबल रूप लेती है, तब दीक्षार्थी दीक्षा पथ पर अग्रसर हो पाता है। कई लोग दीक्षा का भाव मन में बनाये रखते हैं किन्तु भावना वेग नहीं पकड़ पाती। परिणाम स्वरूप उन्हें रास्ता मिल नहीं पाता। वे सोचते जरूर हैं पर उन्हें बाधाएं ही बाधाएं नजर आती रहती हैं, जिससे वे पराक्रम कर नहीं पाते या उनका पराक्रम जाग्रत नहीं हो पाता। कार्य की सफलता के लिए उस विषयक भावों का प्रबल होना जरूरी है।

प्रश्न होता है कि भाव प्रबल कैसे हो? इसका उत्तर स्पष्ट है 'अभ्यासेन क्रिया: सर्वा:।' अभ्यास से सारी क्रियाएं सिद्ध होती हैं और 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' एक महारानी सद्य जात गौवत्स को उठाने में समर्थ नहीं हो पाती किन्तु उसने जब अभ्यास शुरू किया तो वह एक वर्ष के पश्चात् उसी बछड़े को उठाने में समर्थ रही। कालिदास, पाणिनी जी के जीवन वृत्तान्त यह दर्शाते हैं कि अभ्यास से उन्होंने विद्वता प्राप्त की। पहलवान प्रारम्भ से ही बलिष्ठ नहीं होता पर निरन्तर अभ्यास से वह एक दिन हाथी को भी पछाड़ने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार भावों को निरन्तर पोषण मिलने से भाव प्रबल बनते हैं। रोज-रोज भावना भाने से, भावों को सम्पुष्ट बनाने से भावों में प्रबलता आ जाती है।

प्रश्न-बार-बार एक विचार करते रहने से बोरियत भी तो हो सकती है? हो सकती है, पर किसको? जो उसके स्वरूप को समझा न हो। जो स्वरूप को समझ लेता है वह बोरियत का अनुभव नहीं करता बल्कि उसे कार्य सिद्धि की ललक बनी रहती है। उसके लिए वह अपनी कमजोरी को दूर करता रहता है एवं भावों को प्रबल बनाने का प्रयत्न करता रहता है।

शक्तियों का उपयोग सही हो।

शक्तियाँ प्रत्येक इनसान में होती हैं। इनसान ही नहीं प्रत्येक प्राणी शक्तियों का पुंज है। शक्तियों का जैसे-जैसे उपयोग किया जाता है, उसमें वृद्धि होती रहती है। आगमिक भाषा में हम उसे क्षयोपशम कहते हैं। यदि शक्तियों का उपयोग ही नहीं किया गया तो वे क्षीण भी हो जाती हैं। उदाहरण के तौर पर हम अपने अवयवों को ही लें। यदि उनसे कार्य न किया जाय, उनका उपयोग नहीं करें तो वे बिना उपयोग के जड़वत हो जाते हैं। कहा जाता है कि पड़े हुए लोहे पर जंग लग जाती है। जैसे पड़े हुए लोहे पर जंग लग जाती है वैसे निकम्मे अवयव भी अपनी शक्ति खो बैठते हैं। एक प्रकार से उन पर भी जंग लग जाती है। दूसरा उदाहरण हम ज्ञान का ले सकते हैं। ज्ञान का जितना उपयोग किया जाता है वह प्रखर होता जाता है। यदि अभ्यास-उपयोग न किया जाय तो वह विस्मृति के गर्त में चला जाता है। कहा भी है 'अनमभ्यासे विषम विद्या' विद्या अभ्यास के अभाव में विषम हो जाती है। सेना का प्रशिक्षण कार्य न हो तो सेना में भी वह सामर्थ्य रह नहीं पायेगा जो संग्राम में उपयोगी हो। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि शक्ति केवल संग्रह के लिए न हो। उसका विकास संग्रह से नहीं अपितु इस्तेमाल से होता है। इस्तेमाल-उपयोग कहाँ किया जाय इसका ज्ञान होना जरूरी है।

कुछ शक्तियाँ ऐसी भी होती हैं जिनका उपयोग वर्जित है। उपयोग का अर्थ यहाँ पर दुरुपयोग से है। उन शक्तियों को हम लब्धियाँ कहते हैं जो साधना से साधक को प्राप्त होती हैं। उनका उपयोग करना इसलिए वर्जित है कि उनके उपयोग में चमत्कारी भाव आने लगते हैं, जो साधक की साधना के लिए बाधक ही नहीं घातक भी है। ऐसी शक्तियों को संरक्षित-संगोपित रखना ही उपयुक्त है। उदाहरण के रूप में किसी राष्ट्र के पास अस्त्र-शस्त्र कितनी मात्रा में है, उसे जाहिर नहीं किया जाता, उन्हें गोपनीय रखा जाता है। वैसे ही लब्धियाँ गोपनीय मानी गई हैं।

मन पतंग, चर्या है डोर

अपने मन को व्यक्ति स्वयं जितना जान सकता है, उतना अन्य कौन क्या जान पायेगा। कोई विशिष्ट ज्ञानी हो तो बात अलग है। अन्यथा अन्य व्यक्ति अन्य के मन को जान पाए यह कठिन है। व्यक्ति को अपने मन का निरीक्षण-परीक्षण-समीक्षणस्वयं ही करना चाहिये। वह कब सही दिशा में चलता है और कब विपरीत दिशा पकड़ लेता है, कोई पता नहीं पड़ता।

मन की गति सदा एक सी नहीं रहती है। वह बदलती रहती है। कभी शुभता में उसका गमन होता है तो कभी शुभता में चलते चलते अशुभता में भी जा सकता है। कभी किसी निमित्त से उसकी गति में बदलाव आता है तो कभी स्वतः ही उसमें परिवर्तन आ जाता है। मन की गति से बहुत सारे लोग विचलित भी रहते हैं। उनकी शिकायत रहती है कि मन वश में नहीं रहता। मन को वश में रखने के लिए उन्होंने उपाय भी नहीं किये होंगे। जब उपाय ही न किये गये हों तो मन वश में कैसे होगा? अभी तो मन की क्या बात करें, तन भी उनके वश में नहीं रहता। व्यक्ति की बिना जानकारी के भी तन की प्रवृत्ति होती रहती है। मन को साधना कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं। मन को साधने के लिए पहले तन को साधो। देह बिना हिले-डुले कितनी देर तक रह सकती है? उसे और अधिक समय तक स्थिर रखना चाहें तो रह सकती है क्या? व्यक्ति की बिना इजाजत के हाथ-पांव हिलेंगे तो नहीं? शरीर स्थूल है उसे आसानी से वश में किया जा सकता है। जब वह वश में हो जायेगा तो मन को वश में करना सरल हो सकता है। मन को वश में करने के लिए अपनी चर्या को संयमित करना होगा। असंयमित चर्या मन को संयमित नहीं होने देगी। चर्या यदि संयमित हो जायेगी तो मन असंयमित रह सके यह कठिन है। व्यक्ति की चर्या का मन के साथ गहरा सम्बन्ध है। व्यक्ति अपनी चर्या को सुधारना नहीं चाहता। उस पर अंकुश लगाना नहीं चाहता और चाहता है कि मन वश में हो जाय, ऐसा कैसे होगा? ऐसी स्थिति में जो भी प्रयास किये जायेंगे, वे सारे निरर्थक होंगे। वे सार्थक उपाय के रूप में कारगर नहीं हो पायेंगे। मन पर जय पाना है तो पहले चर्या का सुव्यवस्थित होना जरूरी होगा।

संयोग त्यागी अणगार

गृहत्यागी होना ही अणगारत्व नहीं है। अणगार के लिए संयोगों का त्याग होना जरूरी है। संयोग द्रव्य एवं भावात्मक रूप से दो प्रकार का है। द्रव्य संयोग माता-पिता, परिजन एवं धन दौलत आदि रूप है। भाव संयोग क्रोध, मान, माया, लोभादि एवं आसक्ति-रूप है। द्रव्य संयोग का त्याग तो जरूरी है ही, भाव संयोगों से भी उसे मुक्त होने का लक्ष्य रखना होता है। शरीर भी संयोगज है, संयोग से प्राप्त हुआ है। वह सदा रहने वाला नहीं है। संयोग-वियोग में बदलता ही है। शरीर भी छूटेगा क्योंकि वह संयोग रूप है। इसलिए उसके प्रति भी साधु को अनासक्त रहना चाहिये। शरीर संयम साधना में सहायक है। उसके बिना साधना हो नहीं सकती एतदर्थ उसे खुराक देना एक बात है, उसे हृष्ट-पुष्ट बनाने का लक्ष्य उससे सर्वथा भिन्न है। साधु शरीर को खुराक देता है, देना भी पड़ेगा। वह आत्म-हंता नहीं हो सकता। जो साधु वस्त्र-पात्रादि अजीव भण्डोपकरण को भी तब तक नहीं छोड़ता जब तक वह जीर्ण-शीर्ण अनुपयोगी न हो जाय, तब वह साधना में उपयोगी शरीर को कैसे छोड़ सकता है? हाँ जब शरीर भी जीर्ण-शीर्ण हो जाय तो वह उससे निरपेक्ष हो जाता है। जब वह साधना में उपयोगी न रहे तो उसे खुराक देने का कोई अर्थ भी नहीं रह जाता। यदि साधुता के मूलहार्द पर विचार करें तो उसने तो जिस दिन साधुता का बाना पहना उसने देह का ममत्व त्याग दिया होता है। वह उच्छूढशरीरी हो जाता है। वह उसे खुराक भी साधना में उपयोग लेने की दृष्टि से देता है। जब तक उसे कार्य चलाना होता है तब तक ही वह उसका पोषण करता है। जैसे जब सिगनल नारंगीकलर का आ जाता है तब वाहन चालक सावधान हो जाता है। वैसे ही साधक जीवन के अंतिम पड़ाव में आ जाता है तो वह सावधान हो जाता है। वह देह के सम्बन्ध को भी तत्काल त्याग देता है। महासती गरिमा श्री जी ने भी साधना के अन्तिम पड़ाव में देह सम्बन्ध का त्याग किया, ऐसे समाचार मिलते रहे। कल दोपहर बाद उनका संधारा चालीसवें दिन पूर्ण हुआ। संलेखना-संधारा साधुता का अद्भुत अवसर है। प्रत्येक साधु को समाचारणीय है।

दुःख भी मंगल है

श्री मदानन्दघन जी ने विमलनाथ भगवान की स्तुति की। स्तुति को मंगल माना जाता है, लेकिन विमलनाथ भगवान की स्तुति में पहले पहल दुःख शब्द का निपात हुआ है, यथा- दुःख दोहग दूरे टल्या रे... दुःख तो अमंगल है। मंगलाचरण की वेला में अमंगल का उच्चारण क्यों हो? यह एक प्रश्न है। इसके उत्तर को समझने के पहले जान लेना चाहिये कि दुःख क्या है? दुःख आत्मा का एक संवेदन है। कई लोग भयंकर कष्टों में खुशहाल रहते हैं। उनके चेहरे पर उसका कोई प्रभाव नहीं आता पर कुछ ऐसे भी हैं जो थोड़े से कष्ट में दुःखी हो जाते हैं, हाय विलाप करने लग जाते हैं। किन्तु दृष्टि बदलने पर दुःख भी अमृत की खान लगने लगता है। यथा- दुःख है ज्ञान की खान मनवा, दुःख है ज्ञान की खान। और भी- दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे नाकोय... और भी कहा है- उस सुख के ऊपर शिला पड़े जो प्रभु से दूर ले जाय। बलिहारी उस दुःख की जो प्रभु से देत मिलाय। इन सारे उद्धरणों में दुःख ज्ञान-संवेग-निर्वेद, वैराग्य की खान है। क्या रत्नों की खान को पत्थरों की खान कहा जाना उचित है? नहीं। समुद्र को अलग-अलग लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से कथन करते हैं किन्तु रत्न व्यापारी के लिए वह रत्नाकर है। वैसे ही जब दृष्टि ज्ञानमय बन जाती है तब दुःख भी विमलनाथ भगवान के दर्शन से अमृतमय बन जाता है। वह भी उसे कष्टकर नहीं लगता। दूसरी बात विमलनाथ भगवान के दर्शन से दुःख व दुर्भाग्य को दूर हटने की बात कही गई है। अतः उसे यदि दूर करना है तो उससे परिचित भी होना पड़ेगा। परिचित होंगे तभी उसे समूल नष्ट कर सकते हैं। अन्यथा दुःख पुनः पुनः पैदा होता रहेगा। उसका आत्यन्तिक क्षय नहीं हो पायेगा। अतः दुःख के प्रथम निपात को अन्यथा रूप से लेना उचित नहीं है। ज्ञान-वैराग्य संवेग ये सारे मंगल रूप हैं। इस मायने दुःख उनका उत्पादक होने से कथंचित वह भी मंगल हो जाता है। तीर्थंकर की मातावत् कहा जाता है कुन्ती ने श्री कृष्ण से दुःख रूप ही वर मांगा था, ताकि उसका ध्यान उनमें लगा रहें। एक और मर्म की बात है वह यह कि जब लोग दुःख से भागने की कोशिश करते हैं तब दुःख उनका पीछा करता है, लेकिन जो दुःख का सामना करने को तैयार हो जाता है तो दुबक जाता है। दुःख उसे परेशान नहीं कर सकता है।

उन्माद-आवेग धर्म नहीं है

धर्म क्या है? धर्म न शब्दों में है न वस्त्रों में। जब हम शब्दों से धर्म कह रहे या सुन रहे होते हैं तो वह धर्म की प्ररूपणा तो हो सकती है पर वह धर्म नहीं होता। धर्म स्वात्मानुभाव है। व्यक्ति जो चर्या कर रहा होता है, उससे उसे शान्ति, संतोष, समाधि का अनुभव हो तो उसे धर्म माना जाना चाहिये। आज तथाकथित धार्मिकों की कमी नहीं है। धर्म के नाम पर उन्माद, आवेग, उद्वेग, उपद्रव खड़े होते हुए देखकर विचार होना स्वाभाविक है कि धर्म क्या है? हजारों वर्ष पहले भी धर्मात्मा का नाम धराने वाले बहुत थे। मगधसम्राट श्रेणिक ने जानना चाहा तो धर्मात्मा नाम धारियों से श्वेत पाण्डाल भरा हुआ था। जबकि अधर्म का अनुभव करने वाला नगर सेठ एक ही काले पाण्डाल में था। कमोबेश आज भी धर्म की दशा वैसी ही है। तप, जप, त्याग, नियम बढ़ रहे होंगे किन्तु असहिष्णुता, अधैर्य-अधीरतादिनों- दिन घटता नजर आ रहा है। राजनैतिक क्षेत्र में भी इस विषय को लेकर प्रबुद्ध वर्ग चिंतित है। वह चिंता किसी घटना विशेष या समुदाय विशेष के परिप्रेक्ष्य में हो सकती है, किन्तु मानवीय धरातल पर घट रही सहिष्णुता को अनदेखा किया जा रहा है। राजनैतिक क्षेत्र अथवा धर्म को नहीं जानने वालों में वैसी कुछ घटनाएं घट जाना सामान्य कहा जा सकता है पर धार्मिक क्षेत्र में यदि सामान्य स्थिति में भी आवेग, उद्वेग पैदा हो तो उसे क्या समझा जाय? क्या वस्तुतः वहाँ धर्म का प्रवेश हो पाया है? दूध में दही की थोड़ी सी मात्रा दूध को बदल देती है। चन्दन की गन्ध सामान्य वृक्षों को भी सुगन्धित कर देती है। धर्म को यदि जीया जाता है तो कोई कारण नहीं कि उससे जीवन में बदलाव न आए। सामान्य ही नहीं विशेष स्थितियों में भी जीवन में उन्माद-आवेग नहीं आ पायेगा। धर्म मैत्री भाव सिखाता है। वह जन-जन में भेद डालने की बात नहीं कहता। भेद डालना ही है तो जीव व पुद्गल में भेद डालो। जीव को जीव व पुद्गल को पुद्गल समझो। यह समझ ही जीवन में अद्भुत चमत्कार पैदा करने वाली होगी।

उन्माद की जड़ कहाँ

आज एक प्रश्न उठा कि उन्माद, आवेश, उद्वेग पैदा कैसे होते हैं? और धर्म से उनकी पैदाइशरुक कैसे जाती है? प्रश्न भी स्वयं में उठा और समाधान भी स्वयं से हुआ। उन्मादादि में मद-गर्व के भाव मुख्य होते हैं। समुद्र में पाताल कलशों के कारण विक्षोभहोता रहता है। यदि उन्हें हटा दिया जाय तो सागर का जल विक्षुब्ध नहीं हो पायेगा। ठीक इसी प्रकार यदि उन्मादादि के पैदाइश रूप अहं आदि को गला दिया जाय तो उन्माद पैदा हीनहीं हो पायेगा। गर्भस्थ सन्तान का पोषण माता की रस संग्रहणी नाड़ी से होता है। यदि उस नाड़ी को काट दिया जाय तो गर्भस्थ शिशु को पोषण न मिलने के कारण वह पनप ही नहीं सकता। वैसे ही उन्मादादि को जहाँ से रस मिलता है उसका उच्छेद करना होगा। उसका उच्छेद होते ही उन्मादादि की पैदाइश रुक जायेगी। धर्म उन्मादादि की जड़ को ही नष्ट कर देता है। वह गर्व को गला डालता है, जिससे उन्माद-आवेग पैदा ही नहीं हो सकते। धर्माभाव में जब तक व्यक्ति जीता रहता है, तब तक उस जड़ पर कुठाराघात हो नहीं पाता, बल्कि उसे रस मिलता रहता है। परिणाम स्वरूप उन्मादादि की ग्रन्थि तरो ताजा होती रहती है। धर्म उस सूई के समान है जो ताल वृक्ष के शिरस्थ स्थान पर लगने से ताल वृक्ष को सुखा देती है। धर्म भी उन्माद के पोषण को रोक देता है। इसलिए धर्म को उसका अवरोधक माना जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म संशोधक है। वह उन्माद को पैदा करने वाली ग्रन्थि का ही शोधन कर देता है। उस स्थिति में उससे उन्माद-आवेग पैदा ही नहीं हो पाते। उन्माद, आवेग, उद्वेग प्राणी की नकारात्मक ऊर्जा है। उससे वह विध्वंस तो कर सकता है पर सर्जन नहीं कर सकता। सर्जन के लिए जिस सकारात्मक ऊर्जा की अपेक्षा होती है, वह धर्म से प्राप्त होती है। धर्म का अर्थ मात्र अनुष्ठान कर्म ही नहीं है, परिणाम विशुद्धि उसका मुख्य हेतु है। उसके बिना अनुष्ठान कितने भी हों वे सम्यक नहीं हो सकते हैं।

अहं का शोषण अपना पोषण

व्यक्ति जब पर-दोष-दर्शन में लगता है तो उससे उसके अहं का तो पोषण होता है किन्तु उससे वह आत्म-शोषण से स्वयं को नहीं बचा पाता। पर-दोष-दर्शन यदि सुखद लगे तो समझना चाहिये कि वह आत्मघाती दौर से गुजर रहा है। वह अवस्था कभी सुखप्रद नहीं हो सकती। जब तक मन की नादानी रहती है तभी तक वह अवस्था सुख रूप लगती है। जैसे किसी-किसी बीमारी में नीम मीठा लगता है, पर वह मीठा होता नहीं है। वैसे ही पर-दोष-दर्शन सुख रूप नहीं होता। मन की नासमझी (बीमारी) के कारण ही वह सुखद अनुभूत होता है। उससे बचाव करना चाहिये। उससे बचने का उपाय है पर गुण दर्शन। देखना है तो दूसरों के गुणों को देखो व अपने में उन्हें अपनाकर लक्ष्य भी हो। यदि आज लक्ष्य न भी बन पाया हो पर गुण दर्शन से गुणों का अभिवर्धन संभव है। यह विश्वास अवश्य होना चाहिये हीरों को देखते-देखते उनकी पहचान होना स्वाभाविक है। कोयलों को देखने वाला हीरों की पहचान कर पाए, यह कठिन है।

अहं का शोषण और आत्मा का पोषण करना है तो उसके लिए सुगम उपाय है निज-दोषों को देखना और दूसरों के गुणों को देखना। अपने दोष देखते रहने से अपने दोष दूर होते हैं। अहंकार दूसरों के दोष देखकर ज़िंदा रहता है। अपना दोष दिखते ही बर्फ और मोम की तरह गलने लगता है। उसके गलते ही आत्म-शक्तियों का जागरण होने लगता है।

अहं संसार में अटकायेगा। वह भव अटवी से पार नहीं होने देगा। अतः अहं को पोषण मिले ऐसी कोई क्रिया नहीं की जानी चाहिये। अहं किस उपाय से शिथिल हो सकता है, उसका प्रयोग करना चाहिये। साधना का लक्ष्य आत्म-शक्तियों का जागरण है। उसमें बाधक अहं को जब तक नहीं हटाया जायेगा तब तक आत्म-ऊर्जा व्यक्त नहीं हो पायेगी। इसलिये अहं को गलाना, हटाना, नष्ट करना जरूरी होगा।

सहजता से अमृत मिले

कपट क्रिया बिना दाँव-पेच के सफल नहीं हो पाती। दाँव-पेच कई बार दूसरों को फांसने में कामयाब हो जाते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा दाँव-पेच वाला स्वयं उसमें फंस जाया करता है। शायद इसीलिए कहा जाता है कि जो दूसरों के लिए गड़ढा खोदता है, गिरता स्वयं है। यदि अनुपेक्षा करें तो दाँव-पेच खेलने वाली मनः स्थिति साफ सुथरी नहीं होती। उससे दूसरे का अहित कितना होगा कहा नहीं जा सकता पर अपना अहित तो निश्चित है। दाँव खेलने वाला मन पासे कैसे पलटना है, इसी फिराक में रहता है। यह एक प्रकार की नेगेटिव ऊर्जा है, जो विपथ गामी होती है। यह नकारात्मकता आत्म-विकास में सहायक नहीं होती, बाधक जरूर होती है। इससे आदमी आत्म-सुख तो पा ही नहीं सकता। आनन्द क्या होता है, वह उसका रसास्वादन भीकर नहीं पाता। वह दाँव-पेच को ही आनन्द मान उसी में रमता रह जाता है। जैसे उल्लू सूर्य के प्रकाश को नहीं देख पाता वैसे ही वह जीवन के यथार्थ सुख का अनुभव नहीं कर सकता। दाँव जब विफल होता है, उल्टा पड़ जाता है, तब उनकी दयनीय दशा देखने जैसी होती है।

आत्मार्थी कभी दाँव-पेच खेल नहीं सकता। समाज के कार्यकर्ताओं को भी दाँव-पेच खेलने से बचने का लक्ष्य रखना चाहिये। जो कार्य सहजता से हो सकता है, जो आत्म-संतोष सहजता से मिलता है, वह दाँव-पेच जन्य स्थितियों से कभी नहीं मिल सकता। दूसरा जाने या न जाने व्यक्ति का मन तो जान ही रहा होता है कि वह दाँव खेल रहा है। परिवार के सदस्यों के साथ यदि दाँव खेला जाता है तो परिवार के सदस्यों को जब ज्ञात होगा कि अमुक दाँव खेलता है तो उनका उस पर विश्वास-भरोसा नहीं हो पायेगा। ऐसे ही समाज के धरातल पर दाँव खेलने वाला समाज का विश्वास खो बैठता है। दाँव खेलने वाला स्वयं भी अपने व दूसरों पर जल्दी से विश्वास नहीं कर पायेगा। अतः कपट क्रिया से बचें। दाँव खेलने से स्वयं को बचायें।

संसार-समुद्री लहरों से बचाता धर्म-द्वीप

समुद्र में पड़ा हुआ व्यक्ति लहरों के थपड़े खा रहा था। सहसा उसे एक समुद्री द्वीप दृष्टिगत हुआ। वह उत्साह से उस ओर बढ़ा और द्वीप में चला गया। द्वीप में जाते ही समुद्री लहरों से वह बच गया। अब वे लहरें उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती थीं। वह लहरों को देख अवश्य रहा है पर लहरें उसे छू भी नहीं पा रहीं। जैसे वह व्यक्ति समुद्री द्वीप में सुरक्षित हो गया वैसे ही संसार समुद्र में पड़ा जीव यदि धर्मरूपी द्वीप का आश्रय ग्रहण कर लेता है तो संसार समुद्र की लहरों से वह स्वयं को बचाने में समर्थ हो सकता है। धर्म वह सुरक्षा कवच है जिसे धारण कर लेने पर बाहर की कोई भी शक्ति उसे परेशान कर नहीं सकती। उसका बिगाड़ कर नहीं सकती। पर धर्म रूपी द्वीप यथार्थ होना चाहिये। धर्माभास रूप द्वीप का यदि कोई आश्रय ले भी ले तो उससे वह संसार-समुद्री लहरों से स्वयं को बचा पाने में सक्षम नहीं हो सकता, इसलिए पहले धर्म की सम्यक् पहचान होनी चाहिये। शास्त्र कहता है 'पढमं नाणं तओ दया।' तदनुसार पहले धर्म को जानना जरूरी है। जैसे रत्न की परख जौहरी करता है क्योंकि आँखों में उसको परखने की क्षमता है। उसके समक्ष यदि अधिक चमचमाता काँच का टुकड़ा ले जाया जाय तो वह उसे हाथ भी नहीं लगायेगा। वह उसके लिए व्यर्थ है। अनजान व्यक्ति के लिए वह चमचमाता काँच का टुकड़ा रत्न हो सकता है पर जिसकी नजरों में रत्न की परख है, उसके लिए उसका कोई महत्व नहीं होता। जैसे जौहरी की निगाह में रत्न को परखने की क्षमता है वैसे ही धर्म को परखने की क्षमता व्यक्ति को अपने में पैदा करनी चाहिये। धर्म की पहचान हो जाने पर वह सहसा किसी से ठगायेगा नहीं। न वह किसी को ठगेगा और न ही वह किसी से ठगायेगा ही। धर्म का आसेवन करने पर व्यक्ति आत्म-स्थित बनता है। अपने में ही परितृप्त रहता है। शान्त-समाधि भावों का वह स्वामी बन जाता है। तनावानुसंग संसार-समुद्र की लहरें उसको प्रभावित नहीं कर सकती। आओ, पहले धर्म को जानने की दृष्टि अपने में विकसित कर लें।

दुविधा में दौड़ गये

धर्म से बढ़कर धन को जब से महत्व मिला, सारा वातावरण ही बदल गया। व्यक्ति धन के पीछे दौड़ रहा है। धर्म बेचाराछाया की तरह व्यक्ति के पीछे दौड़ रहा है। व्यक्ति को न धन से तृप्ति होती है और न उसकी दौड़ ही रुक पाती है। बस दौड़ रहा है, बेतहाशाभाग रहा है। विराम ले ही नहीं पा रहा है। ऐसी स्थिति में वह पीछे मुड़ धर्म की तरफ देखे भी तो कैसे? उसकी आँखें धन पर गड़ी हैं। वे पीछे देखने को तैयार ही नहीं हैं। कभी भूले भटकें पीछे देख भी लें तो आँखें वहाँ टिक ही नहीं पाती। व्यक्ति एक बार देख झट से मुँह फेर लेता है। अब बतायें वह धर्म को जाने-पहचाने भी तो कैसे? जब उसको धर्म की खबर लेने की भी फुर्सत नहीं तो वह उसको कैसे जी सकता है? लेकिन समाज में वह अधार्मिक भी कहलाना नहीं चाहता। परिणाम स्वरूप कभी-कभार धर्म को पोशाक की तरह पहन लेता है। ओढ़ लेता है। ओढ़ा हुआ धर्म भला उसका क्या हित कर सकता है? वह कैसे उसे आनन्दित कर सकता है? हजार के हजारों नोट जब में पड़े रहें तो उससे पेट भरने वाला नहीं है। पेट भोज्य सामग्री से भरता है। पैसे भुना कर भोज्य सामग्री ले और उसका सेवन करे तब ही उस सामग्री का आस्वादन कर सकता है। वैसे ही धर्म को जब तक ओढ़ कर चलेगा, व्यक्ति सुखी नहीं हो पायेगा।

धन की तरफ लगी आँखें मान-सम्मान की अभीप्सु बनती हैं। मान-सम्मान की लालसा व्यक्ति को पागल बना देती है। धर्म मान-अपमान की चिन्ता नहीं करता। उसे न मान की चाह रहती है और न ही अपमान का भय। किन्तु धन पर दृष्टि होने पर वह अपमान सह नहीं पाता और मान को पचा नहीं पाता, जिससे वह अशान्त का अशान्त बना रहता है। न माया से ही मन भरा और न राम-धर्म ही पा सका। एक प्रकार से कह सकते हैं 'दुविधा में दौड़ गये।'

काम्य, काम्य न रहे।

जब कामनाएं कमनीय के प्रति बनी रहती हैं तब मन पुनः पुनः उसी ओर झांकता रहता है। वस्त्र-गंध अलंकारादि अनेक पदार्थों को व्यक्ति कमनीय मानता है। उनको प्राप्त करने की स्पृहा के साथ ही प्राप्त का भोग करने में तन्मय रहता है। कमनीय पदार्थों का अभाव आता ही नहीं। नित नये आकर्षक डिजाइनों में वस्त्रालंकारादि की उपलब्धमानस्थिति व्यक्ति के चित्त को स्थिर होने नहीं देती। वह उन नये-नये आकर्षणों के प्रति अनुरक्त होता रहता है। चाह भी जगती रहती है। वे कभी प्राप्त हो पाते हैं तो कभी वह प्राप्त करने में असमर्थ भी रह जाता है। मनोज्ञ-कमनीय की प्राप्ति उसे हर्षोन्मत्त बना देती है जबकि अप्राप्यावस्था उसे दीन बना देती है। उसके मन में उसका अभाव कसमसाता रहता है। ऐसी स्थिति में वह यदि धर्म की आराधना हेतु उपस्थित भी हो तो क्या वस्तुतः वह धर्म को आराधनसकता है? आत्म-साधना में स्वयं को संलग्न कर सकता है? उत्तर होगा- कथमपि नहीं। जब तक मन की क्षुधा शान्त न हो जाय तब तक वह धर्माभिमुख कैसे बन पायेगा? भूखे को पहले भोजन की जरूरत होती है, उपदेश की नहीं। तप करने वाले मन को समझा लेते हैं इसलिए वहाँ मन बुभुक्षित नहीं रहता। साधक लोग जब साधना में लगते हैं तब वे कमनीय के प्रति मन को क्षुधातुर नहीं रहने देते। वे साधना से कमनीयता के प्रति आकर्षण को खत्म करने का प्रयत्न करते हैं ताकि वे कमनीय उसे आकर्षित ही न कर सकें। वे अपने मन में उनके बीच एक ऐसी लक्ष्मण रेखा खींच देते हैं, जिससे मन उससे बाहर जाए ही नहीं। उस स्थिति में मन कमनीय के तरफ दौड़ लगाता ही नहीं। वह समझ जाता है कि उसे उधर जाना ही नहीं है। अतः वह उधर नहीं जाता। लक्ष्मण रेखा गहरी होनी चाहिये, अन्यथा मन उसे लांघ कर जा सकता है। हम जानते हैं मर्यादा से पाँव बाहर रखना ही खतरा है। अतः मर्यादा की रेखा का उल्लंघन नहीं करना ही हितकर होता है।

न हर्ष हो न गम (शोक)

धर्म से बढ़कर धन को जब से महत्व मिला, सारा वातावरण ही बदल गया। व्यक्ति धन के पीछे दौड़ रहा है। धर्म बेचाराछाया की तरह व्यक्ति के पीछे दौड़ रहा है। व्यक्ति को न धन से तृप्ति होती है और न उसकी दौड़ ही रुक पाती है। बस दौड़ रहा है, बेतहाशाभाग रहा है। विराम ले ही नहीं पा रहा है। ऐसी स्थिति में वह पीछे मुड़ धर्म की तरफ देखे भी तो कैसे? उसकी आँखें धन पर गड़ी हैं। वे पीछे देखने को तैयार ही नहीं हैं। कभी भूले भटकें पीछे देख भी लें तो आँखें वहाँ टिक ही नहीं पाती। व्यक्ति एक बार देख झट से मुँह फेर लेता है। अब बतायें वह धर्म को जाने-पहचाने भी तो कैसे? जब उसको धर्म की खबर लेने की भी फुर्सत नहीं तो वह उसको कैसे जी सकता है? लेकिन समाज में वह अधार्मिक भी कहलाना नहीं चाहता। परिणाम स्वरूप कभी-कभार धर्म को पोशाक की तरह पहन लेता है। ओढ़ लेता है। ओढ़ा हुआ धर्म भला उसका क्या हित कर सकता है? वह कैसे उसे आनन्दित कर सकता है? हजार के हजारों नोट जेब में पड़े रहें तो उससे पेट भरने वाला नहीं है। पेट भोज्य सामग्री से भरता है। पैसे भुना कर भोज्य सामग्री ले और उसका सेवन करे तब ही उस सामग्री का आस्वादन कर सकता है। वैसे ही धर्म को जब तक ओढ़ कर चलेगा, व्यक्ति सुखी नहीं हो पायेगा।

धन की तरफ लगी आँखें मान-सम्मान की अभीप्सु बनती हैं। मान-सम्मान की लालसा व्यक्ति को पागल बना देती है। धर्म मान-अपमान की चिन्ता नहीं करता। उसे न मान की चाह रहती है और न ही अपमान का भय। किन्तु धन पर दृष्टि होने पर वह अपमान सह नहीं पाता और मान को पचा नहीं पाता, जिससे वह अशान्त का अशान्त बना रहता है। न माया से ही मन भरा और न राम-धर्म ही पा सका। एक प्रकार से कह सकते हैं 'दुविधा में दोऊ गये।'

काम्य, काम्य न रहे।

जब तुम्हें अपनी जवानी, रूप, रंग, सौंदर्य पर गुमान हो, गर्व हो तो एक बार हॉस्पिटल में अस्थि पंजर-नर कंकाल के दर्शन अवश्य कर लेना। क्षण भर उस पर विचार करना कि इसमें सत्यता क्या है? दूसरे क्षण स्वयं को उस रूप में देखना। करकंडू राजा सांड की दशा पर विचार करते रहे। उनकी नजर से सांड गायब हो गया। उसके स्थान पर उन्हें स्वयं की देह जर्जरित दशा में निस्तेज-निरीह अवस्था में पड़ी हुई दृष्टिगत हो रही थी। वे उसे देखते रहे। पौद्गलिक परिणामन उनकी आँखों के सामने अपनी सच्चाई बयां कर रहा था। अकस्मात् उनकी तन्द्रा टूटी, वे सावधान हुए और चल पड़े। आत्मा की दिशा में। हकीकत यही है पुद्गलों की। वे जीर्ण-शीर्ण होते हैं व नष्ट-विनष्ट हो जाते हैं। उनका परिणामन प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। उसे देख कर भी यदि कोई बोध को प्राप्त न हो तो कहना पड़ेगा अभी कर्मों का निबिड़ योग है, अन्यथा क्या आँख मूंदी जा सकती है? कभी नहीं। सुबुद्धि प्रधान ने खन्दक के पानी को परिवर्तित कर यह दिखा दिया कि सुगन्ध वाले पदार्थ दुर्गन्ध में व दुर्गन्ध वाली वस्तुएं सुगन्ध में परिवर्तित हो जाती हैं। यह सिद्धान्त जानते हुए भी यदि अनजान बन जाय तो कोई क्या कर सकता है।

मनोज्ञ पदार्थ तुम्हारे अन्तर में हर्ष पैदा न करें और अमनोज्ञ चीजों से मन में नफरत-घिन पैदा न हो। तुम्हारी स्वयं की बचपन में जो अवस्था थी, वह आज नहीं है। आज जो है वह कल रहने वाली नहीं है। इस सत्य को सदा याद रखना। तुम और कुछ नहीं कर सको तो कम से कम अपनी कहानी को ही एक बार पढ़ लेना। तुम्हें सच्चाई साफ दिखने लगेगी। मदमाती जवानी में पागल मत बन। यह सदा रहने वाली नहीं है। बुढ़ापे में रोना मत, यह भी व्यतीत होने वाला है। सच यह है कि यहाँ किसी के प्रति हर्ष या गम कोई मायने नहीं रखता। तुम केवल उन्हें देखो, देखते रहो। न हर्ष हो न गम।

त्याग-अन्तर में जिसका आकार न रहे

त्याग की परिभाषा क्या है? अमुक-अमुक पदार्थों को छोड़ना, ग्रहण नहीं करना, त्याग का स्वरूप इतना ही नहीं है। त्याग का तात्पर्य है जो छोड़ा गया है, उसकी छाया, उसका आकार भी मन में न रहे। उसे याद ही न रखे कि मैंने यह छोड़ा है। जो छोड़ा गया है, उसे भूल जाना- त्याग है। उसकी छाया या आद्विती यदि मन पर बनी रहे, मन उसका स्मरण करता रहे कि मैंने यह त्यागा है, यह छोड़ा है, इतना धन छोड़ा है, इतनी जमीन जायदाद छोड़ी है तो समझना चाहिये, कि उससे वे चीजें-पदार्थ द्रव्य दूर अवश्य हो गये हैं पर भाव से अभी वे उसी में बसे हुए हैं। एक चोर महात्मा की सीख को हृदय में धारण कर के महात्मा तो बन गया पर अन्य संतों की परेशानी बढ़ गयी। हुआयों कि चोर संत की नींद रात को खुल जाती और रोज के अभ्यासानुसार वह उठ जाता। चोरी तो उसे करनी नहीं थी पर संस्कार छूटे नहीं थे। अतः उठकर किसी का सामान कहीं तो अन्य का सामान अन्य के सामान में धर देता। संतों को परेशानी होती कि उनका सामान गया कहाँ? ऐसा क्यों हो रहा है? एक बार गुरु जी ने जागकर देखा तो ज्ञात हुआ सारी गड़बड़ चोर संत की करामात है। वह साधु तो बन गया किन्तु अभी तक चोरी के संस्कार पूर्ण रूपेण साफ नहीं हो पाए थे। चोर संत के चित्त पर चोरी की छाया बनी हुई थी। नहीं चाहते हुए भी उससे वे क्रियाएं हो जाती थीं, जो नहीं होनी चाहिये थीं। मेघ कुमार दीक्षित हो गये किन्तु प्रथम रात्रि में ही उनका मन उचट गया। कारण बना संतों के पांवों का संस्पर्श। उनको काफी अखरा। उनको राजकुमार होने का अहसास होने लगा। एक प्रकार से मान-सम्मान का आकार उभर गया। उससे वे काफी पीड़ित हुए। वह आकार उन्हें अपनी ओर खींचने लगा। वे पुनः संसार में, गृहस्थ परिवेश में जाने को तैयार हो गये। दीक्षा लेते हुए उन्होंने राज्य-वैभव तो त्यागा पर मन से वह पूर्णतया दूर नहीं हुआ। जब तक मन से नहीं छूटता तब तक त्याग की ऊँचाई प्राप्त नहीं हो सकती। धर्म भीतर से उन सबको छोड़ने-त्यागने की बात करता है। अन्तर से जो छूट जाता है वही सच्चा त्याग हो पाता है। सच्चे त्याग से ही आत्म-समाधि प्राप्त हो सकती है। त्याग, पदार्थ का नहीं, अन्तर से होना चाहिये।

स्वस्थ मन धर्म की पहचान

सोने का परीक्षण कसौटी पर कसने से हो जाता है। तापमान का माप भी यंत्र से किया जाता है। दूध में फैट कितना है उसे भी यंत्र के द्वारा जान लिया जाता है। शरीर के तापमान को भी थर्मामीटर से मापा जाता है। यदि कोई पूछले कि धर्म को मापने का क्या कोई यंत्र है? धर्म को कैसे मापा जाय कि व्यक्ति में धर्म कितना है? धर्म को मापने का यंत्र व्यक्ति का मन है। जैसे थर्मामीटर में 98.6 तक शरीर का तापमान हो तो उसे स्वस्थ माना जाता है। उससे ज्यादा तापमान होने पर उसे रुग्ण माना जाता है। वैसे ही मन यदि तनाव मुक्त है तो समझना चाहिये कि व्यक्ति धर्म-की दृष्टि से स्वस्थ है। यदि व्यक्तितनाव ग्रस्त है तो उसे अध्यात्म की दृष्टि से बीमार कहा जाना चाहिये। प्रश्न होगा कि व्यक्ति तनाव ग्रस्त क्यों होता है। जैसे शरीर रुग्ण होता है वैसे ही मन भी रुग्ण हो जाता है। मन की बीमारी उसका अशान्त होना है। तनाव उसे अशान्त बनाता है। तनाव का मुख्य कारण है अतिक्रमण। व्यक्ति जब असहज होता है तो वह तनाव ग्रस्त हो जाता है। यदि कोई अन्य की अधिद्वत जमीन या अन्य को हड़पने का विचार करता है, हड़पता है तो वह असहज हो जाता है। उसमें भय का संचार भी होने लगता है। इस प्रकार के अनेक कार्य हैं जिनके कारण व्यक्ति असहज हो जाता है। यही असहजता उसे तनाव युक्त बनाती है जिससे वह मानसिक रूप से रुग्ण-अशान्त हो जाता है। धर्म कहता है अतिक्रमण मत करो। जैसे व्यक्ति अपनी जीवनशैली में किसी की दखल पसंद नहीं करता वैसे ही वह स्वयं दूसरों की जीवनशैली में दखल न दे। दूसरों को अपने तौर-तरीकों से जीने दिया जाय। सम्यक् जीवनशैली को बोध कराना एक बात है और उसका आग्रह करना अलग बात है। बोध देना अतिक्रमण नहीं है किन्तु आग्रह को अतिक्रमण से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ अतिक्रमण होगा वहाँ असहजता आए बिना नहीं रहेगी। जहाँ सहजता हटेगी, वहाँ तनाव आयेगा। अतः धर्म में कौन कितना गहरा है, यह व्यक्ति अपने मन से जान सकता है। वह जितना समाधिस्थ है, उतना ही उसमें धर्म गहरा उतरा है। यदि वह तनाव में है तो समझलो वह बीमार है। जितना ज्यादा तनाव, उतना ही ज्यादा वह बीमार है।

आस क्यों जो नाश हो ?

भुक्त भोगी का भोगों का स्मरण कभी-कभी विचलित करने वाला बन जाता है, तो अभुक्त भोगी को आकर्षक विषय कुतूहल पैदा करने वाले हो जाते हैं। आकर्षण केवल एक संवेदन मात्र है। एक व्यक्ति के लिए जो आकर्षक है वही वस्तु अन्य के लिए विकर्षक हो सकती है। उसे उस पदार्थ पर अनुराग के बजाय नफरत हो सकती है। आकर्षण वस्तु में नहीं, मूल्य पदार्थ में नहीं, व्यक्ति की निगाह में होता है। वह जिसे महत्व दे देता है वही उसके लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। अपंग स्त्री भी पुरुष के लिए आकर्षक बन सकती है तो विकलांग पुरुष भी किसी स्त्री के लिए आकर्षक बन सकता है। चाहे पदार्थ हो या व्यक्ति जब भी उनके प्रति आकर्षण पैदा हो तो दृष्टि को पर्याय से हटा कर द्रव्य पर केन्द्रित करनी चाहिये। अथवा व्यक्ति के शरीर व पदार्थ गत अशाश्वत-अनित्य रूप पर दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिये। प्रत्येक पदार्थ सड़न-गलन रूप है। राजा भर्तृहरि के द्वारा दिये गये अमर फल की क्या हालत हुई उस पर विचार करना चाहिये। सोचना चाहिये जब अपना शरीर भी अपना नहीं है तो अन्य पदार्थों को अपना मानना, अपना बनाने का प्रयत्न करना, उन पर मुग्ध होना कितनी नासमझी भरी बात होगी। छाया के पीछे दौड़ने से क्या फायदा हो सकता है? भोग्य सामग्री मात्र मन की तरंग है। उसमें आनी जानी कुछ भी नहीं है। पोली मुट्ठी को खोलने पर उसमें क्या निकलेगा? कुछ भी तो नहीं। वैसे ही भोग्य पदार्थों के भोगने से कुछ भी मिलने वाला नहीं है। जैसे विष तन को नष्ट कर देता है, वैसे विषयानुराग मन को मलिन एवं आत्मा के सद्गुणों को नष्ट कर देता है। विषयों में अनुरक्ति पैदा न हो इसका सतत लक्ष्य रहे। शरीर के ऊपर की चमड़ी हटा कर यदि उसके वीभत्स रूप का कोई दर्शन कर ले तो वह कभी भी उसकी वांछानहीं कर सकता। अतः चमड़ी को नहीं चमड़ी के भीतर के रूप को देखकर मन में सोचो कि क्या वस्तुतः वह ग्राह्य है? नष्ट होने वाले पदार्थ पर अनुरक्ति हमें भी नष्ट करने वाली होगी। इसलिए विनश्वर चैतन्य का ही ध्यान करो।

अहर्निश जले ज्ञान-दीप

व्यापारी के पास यदि रुपये हों तो वह उनको दो चार दिन भी अपने पास रखने के बजाय ब्याज या व्यापार में लगाना चाहता है। उसकी तमन्ना रहती है कि पैसा-पैसे को बढ़ाये। इस सम्बन्ध में जब विचार करते हैं तो लगता है कि जो व्यापारी पैसों को बढ़ाने में इतनी तत्परता रखता है क्या ज्ञान-धर्म, त्याग-तपस्या को भी उसी प्रकार से बढ़ाने की उसकी तमन्ना रहती है? यदि नहीं, तो क्या उसने ज्ञान या धर्म को महत्त्व दिया है? ज्ञान का दीप अखण्ड प्रज्वलमान रहना चाहिये। वह तभी संभव है जब उसमें ज्ञान-धी डालते रहा जाय। आज जो सीखा है उसमें रोज कुछ नया जुड़ना चाहिये। भले एक शब्द ही क्यों न हो। कुछ न कुछ नया जुड़ता गया तो निश्चित रूप से ज्ञान का दीप निरन्तर प्रज्वलित बना रहेगा। उसके लिए चाहे कितना भी परिश्रम करना पड़े, किया जाना चाहिये। कड़ा परिश्रम भी करना हो तो अवश्य किया जाय। यदि रात-रात भर जागना पड़ जाय या खाना भी छूट जाय तब भी पाँव पीछे नहीं हटाना चाहिये। सफल होने के लिए दृढ़ता का होना आवश्यक है। कर्मठता के बिना सफलता सहज उपलब्ध नहीं होती। क्षयोपशम की तीव्रता से कभी कभी अल्प पुरुषार्थ से भी सफलता मिल जाती है। लेकिन ऐसे प्रसंग अत्यन्त विरल होते हैं। अधिकांश व्यक्तियों को सफल होने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। कड़ी मेहनत की कमाई से बनी रोटी में जो मिठास आती है वह सहज मिलने वाली रोटी से कई गुणा अधिक होती है। ऐसा ही ज्ञान के सम्बन्ध में समझना चाहिये। शिविरों में पुरस्कार प्राप्ति से जो ज्ञान पाया जाता है उसमें वह मिठास-आनन्द नहीं आता जो स्वयं के पुरुषार्थ से प्राप्त ज्ञान से आता है। पूर्वजों से प्राप्त धन की कीमत उसका भोग करने वाला क्या जान सकता है? नहीं जान सकता। अतः उपचरित रूप से केवल ऊपरी-ऊपरी तौर पर ही ज्ञान न सीखें उसकी गहराई में भी उतरने का लक्ष्य रखा जाय। गहरे से प्रकट हुआ ज्ञान अद्भुत है। उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का कहना ही क्या? अतः प्रतिदिन कुछ समय ज्ञान के लिए अवश्य नियोजित किया जाय।

सद्भाव की अद्भुत महिमा

प्रत्येक व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होता है। प्रत्येक प्राणी का वीर्य कुछ अंशों में जागृत रहता है। उसके बल पर योग की निष्पत्ति होती है। योग वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपाशम का ही परिणाम है। योग शक्ति से सारी क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। यह योग शक्ति कीड़ी से कुंजर तक में यानी निगोदिया जीवों से लेकर देव-मनुष्य सब में रही हुई है। आत्मा में इसके अतिरिक्त भी अर्जन शक्तियों भरी हैं। उनका प्रकटीकरण होना लब्धि कहलाता है। लब्धिप्राप्ति। भूमि में खनिज भरा है किन्तु जब तक वह अधिगत न हो तब तक उसका व्यवहार भी नहीं हो सकता व भूमि का मालिक यह भी नहीं कह सकता कि उसकी भूमि में अमुक-अमुक सम्पदा भरी है। मेवाड़-उदयपुर के आसपास पहाड़ियाँ थीं, जब शोध से ज्ञान हुआ कि उनमें महत्वपूर्ण कीमती पत्थर है जिसे ग्रेनाइट की संज्ञा दी गई। उन पहाड़ियों का स्थान अब खदानों में बदल गया है। गोलकुण्डा तो इतिहास प्रसिद्ध स्थान है। जैसे जमीं में अनेक रत्न-खनिज भरा है वैसे ही आत्मा में अनेक अचिन्त्य शक्तियाँ भरी हैं। सात्विक भावना से वे शक्तियाँ जागृत होती हैं। उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव हैं। जैसे अलग-अलग रत्न अपनी विशिष्ट शक्ति रखते हैं, वैसे ही वे लब्धियाँ-शक्तियाँ अपनी विशिष्टताओं से प्रसिद्ध हैं। गौतम गणधर के लिए कहा जाता है - 'अंगूठे अमृत बसे लब्धितणा भण्डार' अर्थात् वे अनेक विधलब्धियों से सम्पन्न थे।

उनकी लब्धियों का मुख्य कारण था सदाचार। प्रभु महावीर के प्रति अनन्य समर्पण भाव। मन-बल-काया व भावों की एक रूपता। आत्म की विशिष्ट शक्तियाँ सदा सद्भाव से जागृत हो पाती हैं। सद्भाव का तात्पर्य है सबके प्रति आत्मीय भाव। सारी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान मानना, अनुभव करना। सभी आत्माओं में उस चेतन्य स्वरूप के दर्शन करना। ऐसा अनुपम भाव जागृत होने पर आत्मा की अनिर्वचनीय शक्तियाँ करवट ले लेती हैं, उनका जागरण हो जाता है। वे आत्मा की रिद्धि बन जाती

भक्ति जगाए सत् की शक्ति

भक्ति की शक्ति को मापा नहीं जा सकता। कहा जाता है भगवान भक्त के वश में होते हैं। भगवान भक्त के वश होने की बात तो सैद्धान्तिक दृष्टि से जमती नहीं है। पर हाँ भगवत्ता भक्ति के वश में होती है। भक्ति से भगवान नहीं रीझेंगे पर स्वयं उसके भीतर रही हुई भगवत्ता अवश्य रीझ जायेगी। भक्ति भगवान को खुश करने के लिए नहीं होनी चाहिये। वह आत्मा को खुश करे यह लक्ष्य होना चाहिये। आत्मा खुश होती है परमात्म भावों से। जब व्यक्ति के भाव परमात्मा की दिशा में अग्रसर होते हैं वह अपने भीतर रहे परमात्मा को प्रभावित करता है। उससे आत्मा प्रसन्न होती है।

बल के अनेक प्रकार बताये हैं- धन-बल, जन-बल, भुजबल, बुद्धि-बल आदि। इनके अतिरिक्त मन-बल, वचन-बल काय बल एवं आत्म बल भी बताये गये हैं। संत भक्ति एवं सदाचार के पालन से ये बल प्रकट होता है। संत भक्ति व्यक्ति के अन्तर में रहे हुए सत् को आन्दोलित करता है। वह जब जागृत हो जाता है, तब अद्भुत-विलक्षण शक्ति का जागरण हो जाता है। चक्रवर्ती को जो बल मिलता है उसके पीछे का राज भी यही है। बलदेव-वासुदेवादि के बल का बीज भी वही संत भक्ति रही हुई है। भरत-बाहुबली के बल की गाथा गाई जाती है। उसकी जमीं के नीचे वही संत भक्ति मौजूद है। तीर्थकर का अमित-बल, वह सत् के जागृत होने से ही प्रकट होता है। सारे बलों में आत्म बल ही प्रधान है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम व क्षय से वह बल प्रकट होता है। सिद्ध भगवान की शक्ति से इसे समझा जा सकता है। हजारों हजार चक्रवर्ती मिलकर भी सिद्ध भगवान के आत्म प्रदोशों को हिलाने में समर्थ नहीं होते। यह अनन्त बल उनकी आत्मा का ही है, जो सत् पर रहे आवरण के दूर होने से प्रकट होता है।

भक्ति में यदि कपट रह गया, खोट रह गई तो वह सत् को आन्दोलित तो करेगी पर उसकी दिशा रावण की शक्ति की तरह विपरीत मुखी बन जायेगी। भक्ति में खोट है- कामना। कामना की भावना अंशमात्र भी नहीं रहनी चाहिये। अत्यन्त अल्प रक्त से रंजित स्वाति-नक्षत्र में बरसे जल की बूंद सीप के मुँह में जाने पर मोती तो बन जाती है पर उसका मोल असली मोती के बराबर नहीं होता। वैसे ही काम्य-भाव से की गई भक्ति दोष युक्त होगी। अतः सावधानी रखना जरूरी है।

चंचल चित्त स्थिर कर रे

चित्त की चंचलता शरीर की चेष्टाएं कराता है। चित्त की चंचलता से देह भी स्थिर नहीं रह पाता है। कभी उसके हाथ हिलते रहेंगे, कभी पाँव, कभी आँखें तो कभी अन्यान्य अवयवों से कुछ न कुछ हरकतें होती रहती हैं। शरीर की ये चेष्टाएं दर्शाती हैं कि चित्त अस्थिर बना हुआ है।

चित्त की स्थिरता के लिए जरूरी है शरीर की चेष्टाओं को व्यवस्थित करना। अर्थात् अनावश्यक रूप से शारीरिक चेष्टाएं न की जाय। शारीरिक चपलता व्यक्ति के अन्तर की झलक देने के लिए काफी है। आन्तरिक गंभीरता की झलक भी शारीरिक अवयवों पर आती है, किन्तु उनकी क्रियाशीलता अत्यन्त सधी हुई होगी। ओछी हरकतें तो संभव ही नहीं हैं।

चपलता का कारण इन्द्रियों पर अधिकार नहीं होना भी दर्शाता है। इन्द्रियाँ जब चपल होती हैं तो वे मन को भी चंचल करने का प्रयत्न करती हैं। बहुत कम लोग होते हैं जो इन्द्रियों को अपने वश में रखने में समर्थ हो पाते हैं। इन्द्रियों को वश में करने का सुन्दर उपाय यह है कि उनका विषय के साथ लगाव न हो। विषय व उनके बीच के सम्बन्धों की समीक्षा कर प्रयत्न यह हो कि उनका उनसे जुड़ाव न हो। उदाहरण के तौर पर कोई खाद्य पदार्थ है, जिसके प्रति अनुरक्ति के भाव बन रहे हों तो उसका त्याग करना। किसी फिल्म को देखने की तत्परता बन रही हो तो स्वयं को अन्य ऐसे कार्य में लगा लो कि उस फिल्म को देखने का अवसर ही नहीं मिले। यह इन्द्रियों से विषयों के अलगाव के लिए प्रथम सोपान है। इसी प्रकार अन्यान्य उपायों से इन्द्रियों को उन-उन विषयों से दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। वस्तु को देखने से, वस्तु के सामने आने से उस पर इन्द्रियाँ चपल हो जाती हैं। पदार्थ त्याग से जब वह चीज ही नहीं मिलेगी तो उसके प्रति बनने वाला लगाव धीरे-धीरे कम होने लगेगा। एक दिन ऐसा भी आयेगा, जब पदार्थ इन्द्रियों को मोहित नहीं कर पायेंगे। परिणाम स्वरूप चित्त शान्त बनेगा। शरीर की हरकतें सधने लगेंगी।

कड़वा तुम्बा

कड़वे तुम्बे का आहार धर्मरुचि अणगार के लिए मारक सिद्ध हुआ। द्रव्य विष तन की क्षति करता है पर भाव विष-आधाकर्मी आदि आहार साधुता को क्षत क्षित कर डालता है। साधु को आधाकर्मी आहार बिना विशेष गाढ़ा-गाढी कारण के स्वीकार ही नहीं करना चाहिये। आधाकर्मी आहार की शंका भी पड़ जाये तो उसकी खोज करके निर्णय करना चाहिये। अनीर्णित अवस्था में उस आहार को परठ देना मंजूर हो पर ग्रहण तो करना ही नहीं। साधु को शरीर से भी बढ़कर साधुता से प्रेम होना चाहिये।

सुपात्र दान से जीव को लाभ बहुत होता है। वह सौभाग्यशाली बन जाता है। उसके कषाय पतले हो जाते हैं पर देय वस्तु व देने वाले के भाव शुद्ध हों। अन्यथा नागश्री ब्राह्मणी की तरह लाभ नहीं मिल पायेगा, बल्कि अनन्त संसार में भ्रमण शीलता बनी रह जायेगी।

बड़े धनाढ्य घर में जन्म लेने वाले को धन कैसे कमाया जाता है उसका जल्दी अहसास नहीं होता। पूर्वजों की जमी साख व पूंजी से वह पूंजीपति बना रहता है। धन से धन बढ़ता जाता है। इसी प्रकार जिसने पुण्य बल से जैन कुल में जन्म लिया, वह धर्म की दुर्लभता को जान नहीं पाता। उसे वह आसानी से जो मिल गया। जब तक वह उसके स्वरूप को नहीं जानेगा, उसकी महिमा को नहीं समझ पायेगा, वह उससे विशेष लाभान्वित नहीं हो पायेगा।

प्रश्न होगा कि क्या साधुओं से ही प्रतिलाभित होना चाहिये ? अन्य जरूरतमंद को दान दे लाभान्वित नहीं होना चाहिये। जरूरतमंद की जरूरतों को पूरी करने का, उससे लाभान्वित होने का निषेध नहीं है। उससे पुण्य संचय हो सकता। निस्वार्थ भाव से ऐसा दान भी पुण्योपार्जक होता है पर सुपात्र दान की महिमा से उसे नहीं तौला जा सकता। अनुकम्पा-दानादि के प्रसंग भी गृहस्थ जीवन में उपस्थित होते हैं। वे प्रसंग भी व्यक्ति के हृदय को कोमल बनाने वाले होते हैं। उन्हें निरर्थक नहीं कह

दुःख का बीज बोना मत

साधु को स्वयं के लिए शिष्य नहीं बनाना चाहिये। शास्त्रों की यह बात बहुत मायने रखती है। गृहस्थ सोचता है बेटा मेरे बुढ़ापे का सहारा है। वस्तुतः बेटा सहारा बन भी पाता है या नहीं, यह एकान्त रूप से नहीं कहा जा सकता। पर ऐसी मानसिकता रूग्ण है जो अन्त-पन्त में व्यक्ति को दुःखी बना देती है। साधु को स्वस्थ मनः स्थिति वाला होना चाहिये। उसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखना चाहिये। उसे पराङ्ग मुखी नहीं होना चाहिये। उसे यह चिन्ता भी नहीं करनी चाहिये कि मेरी बुढ़ापे में सेवा कौन करेगा। भविष्य की चिन्ता उसके वर्तमान सुख को भी छीन लेती है।

साधु दूसरों को संत बनने का उपदेश देता है। प्रश्न होगा जब उसे स्वयं के लिए किसी को दीक्षित करना ही नहीं तो वैसी स्थिति में वह क्यों किसी को प्रेरित करे और क्यों उसे दीक्षित ही करे। इसके लिए आगम यह कहता है कि जन-जन के कल्याणार्थ साधु को उपदेश देना चाहिये। उसी प्रयोजन से उसे दीक्षित भी करना चाहिये। जो व्यक्ति मोह कीचड़ में फंसा है, वह अपना उद्धार कर सके, वह अपना आत्म कल्याण साध सके, इसी उद्देश्य से उन्हें वह दीक्षित करे। वह यदि अपने लिए किसी को भी दीक्षित करेगा तो समझ लो वह दुःख को आमंत्रण दे रहा है। अपेक्षा दुःख की जड़ है। उसने जैसे ही अन्धों के साथ अपेक्षा जोड़ी, उसने दुःख का बीज बो दिया। वह कब फलेगा ? कब उसका परिणाम आयेगा, यह तत्काल कहना शायद शक्य न हो पर वह अपेक्षा यदि बनी रही तो कभी न कभी दुःख देगी ही।

संत को अपने उपादान पर आश्वस्त होना चाहिये। यह पूर्ण सत्य है कि निमित्त उपादान फलने में सहयोगी मात्र होता है। उपादान अपना ही काम आता है। वही मुख्य रहता है। प्रश्न- भगवान ने निपुण अर्थ बुद्धि वाले को सहायक के रूप में स्वीकार करने-इच्छा करने की बात कही है, इच्छा अपेक्षा का रूप है। अतः अपेक्षा नहीं करना, अपने लिए संत दीक्षा नहीं देना, इसे कैसे समझें ? भगवान ने निपुणार्थ बुद्धि वाले की इच्छा करने हेतु जो बात कही वह भी सहायक रूप के लिए ही कही है। निमित्त रूप से उसे अपना सहायक बनाये ताकि अपना उपादान खिल सके। अपने लिए शिष्य बनाने में उसकी मनः

राग-राग में भेद

“**राग** गृहस्थ वर्ग में भी होता है, संत वर्ग में भी। ऐसी स्थिति में क्या कारण है कि संत वैरागी माना जाता है। वह पूज्य बन जाता है और गृहस्थ रागी ही माना जाता है।” उक्त कथन कथंचित सत्य है। इसे थोड़ा समझ लेना उचित है। संत व गृहस्थ दोनों में राग तो होता है पर दोनों के राग में मक्खन निकली हुई छाछ और मक्खन सहित छाछ (मट्टा) जैसा अन्तर है। गृहस्थ के राग में चिकास-स्नेह की बहुलता होती है। साधु संतों का गुरु आदि के प्रति जो अनुराग होता है, वह मोह रूपी स्नेह से सना हुआ नहीं होता। यद्यपि उसमें भी कुछ अंश स्नेह का होता है पर वह उसे संयम में स्थिर करने वाला होता है। ऊपर के गुणस्थानों में जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका स्नेह मंद होता जाता है। छाछ में पानी मिलाने से जैसे वह पतली होती जाती है वैसे ही रागांश पतला-मंद होता जाता है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान रागांश पूर्णतया हट जाता है, उस समय शुद्ध नीर की तरह भाव बन जाते हैं, जिसे वीतरागता की संज्ञा दी जाती है। कह सकते हैं कि साधुओं का राग वीतरागता की ओर बढ़ाने वाला होता है, जबकि गृहस्थ का राग संसार दिशा में बना रहता है। यही गृहस्थ और साधु के राग में अन्तर है।

क्या गृहस्थ वीतरागता की दिशा में नहीं बढ़ सकता ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर है- गृहस्थ भी उस दिशा में- वीतरागता की दिशा में बढ़ सकता है। साधुता को स्वीकार करने वाले गृहस्थ ही तो होते हैं। जिनका राग मंद होते जाता है वे वीतरागता की दिशा में बढ़ते जाते हैं। धुआँ जहाँ से उठता है वहाँ घना होता है, ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है हल्का होता जाता है। राग भी उसी प्रकार से ऊपर के गुण स्थानों में हल्का होता जाता है।

वीतरागता का अर्थ है राग का हट जाना। जिसका भी राग हट गया वह वीतराग बन जायेगा। पर वीतरागता में साधुता होती ही है। वेश का परिवर्तन हो पाए या न हो पाए भावों में परिवर्तन हो जाता है। मरुदेवी माता, भरत चक्रवर्ती आदि ऐसे कई उदाहरण हैं जो भाव बदलने से वीतरागी बन गये।

अध्यात्म-यात्रा

भगवान महावीर की आत्मा नयसार के भाव में जान पाई कि वह कौन है। वहाँ से अध्यात्म सफर, यात्रा प्रारम्भ हुई ? कषाय पतले थे जिससे आत्म-बोध प्रकट हो गया, लेकिन जब कषायों का घनत्व बना तो आत्म बोध लुप्त भी हो गया। कषायों से आत्मा का पुरुषार्थ संग्राम करता रहता है। कई बार वह विजयी भी होता है तो कई बार कषायों का जोर बना रहता है। प्रत्येक आत्मा की ऐसी ही कहानी है। अनादिकाल से वह स्वयं से अनजान बनी रही है। अनेक आत्माएं अपनी भोर-सुबह अभी तक देख ही नहीं पाई हैं। वे अन्धेरे की गुमनामी अवस्था में ही चल रही हैं। कुछेक आत्माएं जो चरमावृत में आ चुकी होती हैं वे शुक्ल पाक्षिक बन पाती हैं। यानी उनको भोर जैसा अनुभव होने लगता है। उनमें से कुछ आत्माओं का सौभाग्य रवि-सम्यक्त्व भाव प्रकट हो जाता है तब वह जान पाती हैं कि वह कौन है ? भेड़ों के साथ रहा हुआ सिंह शावक पहले भूला रहता है पर अन्य सिंह को देखकर अपनी आकृति उससे मिलती हुई जानकर जैसे ही वह दहाड़ता है तो उसे विश्वास हो जाता है कि वह भेड़ नहीं सिंह है। वैसे ही पुद्गल के साथ रहते हुए आत्मा भी अपना भाव भूली रहती है। किन्ही महात्माओं के सम्पर्क से वह जान पाती है कि वह पुद्गल नहीं है, वह आत्मा है। तब से उसकी अध्यात्म यात्रा प्रारम्भ हो पाती है। जो आत्माएं अध्यात्म की पूर्णता को पा लेती हैं वे अरिहंत बन जाती हैं। इस यात्रा में आत्मा, आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बन जाती हैं।

भगवान महावीर भी परमात्मा बने, पर वे तीर्थकर भी बने। परमात्मा बनने वाली सारी आत्माएं तीर्थकर नहीं बना करती पर जो आत्माएं तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन कर पाती हैं वे ही तीर्थकर हुआ करती हैं। तीर्थकर पद प्राप्ति के बीस बोल हैं। उनकी आराधना करने से आत्मा अत्यन्त प्रकृष्ट पुण्य का

नमोतिथस्स

प्रभु महावीर का निर्वाण, गणधर गौतम स्वामी को केवल ज्ञान हुआ। संघ धुरा को आचार्य सुधर्मा स्वामी ने सम्हाला। ज्ञात प्रमाणों से भगवान महावीर द्वारा अपनी उपस्थिति में ही गणधर श्री सुधर्मा स्वामी को गणाधिप-आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। तीर्थकर भगवन्तों की अनुपस्थिति में छद्मस्थ साधक ही संघ धुरा को सम्हाला करते हैं। तदनुसार आर्य सुधर्मा स्वामी ने उसे सम्हाला।

प्रश्न होता है संघ क्या है ? आर.एस.एस. आदि भी संघ के नाम से विख्यात है। उस संघ में और इस संघ में मौलिक क्या अन्तर है। संघ को समुदाय का पर्यायवाची भी कह सकते हैं, पर समुदाय में संघ की समग्रता का समावेश होना कठिन है। समान उद्देश्य को लेकर चलने वाला समुदाय जब सबका हित साधन करते हुए सब को साथ लेकर चलने का कार्य करता है, अथवा सभी उस मिशन-उद्देश्यों को सम्पन्न करने में कदम से कदम मिलाकर चलते हैं, उसे संघ कहा जाता है। आर.एस.एस. अथवा अन्य संघों-समुदायों के अपने-अपने उद्देश्य हैं। जैन संघ का अपना उद्देश्य है। जैन संघ को श्रमण-प्रधान संघ कहा गया है। श्रमण यानी समत्व भाव की साधना में श्रम करने वाला। इससे संघ के उद्देश्य को हम समझ सकते हैं। जिसका प्रधान समत्व-भाव के लिए श्रमशील होगा उसके अनुयायी भी उसी दिशा को स्वीकार करने वाले होंगे। अन्यथा वह संघ या संघ के सदस्य कहलाने के अधिकारी भी नहीं हो सकते। जैन संघ अध्यात्म प्रधान संघ है। उसका मुख्य उद्देश्य आत्मोत्कर्ष का है। संघ का प्रत्येक सदस्य उसी लक्ष्य में कार्यरत हो। श्री मन्नन्दी सूत्र में संघ की व्याख्या दी गई है। वह उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त है। अन्यान्य संघों-समुदायों के उद्देश्य परिवार-समाज-राष्ट्र आदि के उत्थान के हो सकते हैं पर जैन संघ आत्मोत्कर्ष के महान उद्देश्य को प्रस्तुत करता है। आत्मोत्कर्ष से समग्रता को साधा जा सकता है। आत्मोत्कर्ष में समस्याएं ठहरती नहीं हैं। यदि समस्याएं हों भी तो निरस्त हो जाती हैं। उनका अस्तित्व खत्म हो जाता है। ऐसे संघ को तीर्थ भी कहते हैं। जिसे तीर्थकर भी नमस्कार करते हैं।

मोह तन्द्रा को तोड़ें (उड़ाएं)

मोह भाव व्यक्ति को आकुल व्याकुल बना देता है। जिस समय वह मस्तिष्क में छा जाता है उस समय व्यक्ति का ज्ञान-आत्मज्ञान, विचारों की ऊँची उड़ानें, सारी धरी की धरी रह जाती हैं। जैसे इन्कम टेक्स का छापा पड़ता है तो व्यक्ति अस्त व्यस्त हो जाता है। सी.बी.आई. का छापा पड़े तो भी व्यक्ति एक प्रकार से शून्य चित्त वाला बन जाता है। सहसा उसकी समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। लगभग वैसी ही दशा जब मोह मस्तिष्क पर छाया रहता है तब हो जाया करती है। उस समय जीव की समग्र शक्तियों को मोह अपने अधीन बना लेता है। आत्मा इतनी अधीर बन जाती है कि उसे कुछ सूझ ही नहीं पाता। वह शोकाकुल बन बस विलाप करती रहती है। इससे उबरने के लिए पहला उपाय मस्तिष्क जो मोहाधीन बन गया है उसे स्वतंत्र कराने का होना चाहिये। उसे कैसे स्वतंत्र करवाया जाय, यह एक प्रश्न हो सकता है। पर जहाँ अपाय होता है वहाँ उपाय भी मिल ही जाता है। ऐसे प्रसंग पर देखना यह होगा कि मस्तिष्क पर मोह का कितना गहरा प्रभाव है। प्रभाव जितना गहरा होगा उसी अनुपात से उसका उपचार करना होगा। बलराम, वासुदेव को मृत्युपरांत भी मरा मानने को तैयार नहीं थे। बताया जाता है वे छःमाह तक लाश को कंधे पर उठाये-उठाये फिरते रहे। जगह-जगह उनकी चिकित्सा की भी चर्चा करते रहे। ऐसी स्थिति में उनको उन्हीं के तरीके से उपचार देना होता है जिससे उनकी मोह तंद्रा दूर हो जाय। यदि गहरा प्रभाव नहीं हो तो रुदन से भी मोह का असर कम पड़ सकता है। वह उस समय उस विषय को कितना महत्व दे रहा होता है, यह मुख्य रूप से परीक्षण करना चाहिये। वह जितना महत्व दे रहा हो उससे भी अधिक कठिनाई के क्षण या दर्द आदि के दृश्य उसके समक्ष प्रस्तुत करने से उसकी मोह तंद्रा टूट जाती है। यदि खूब गहरा असर न हो तो तत्वावबोध से व्यक्ति को मोह तन्द्रा से दूर किया जा सकता है। गौतम गणधर भी भगवान के निर्वाण होने के समाचारों से स्तब्ध रह गये, ऐसा बताया जाता है। स्तब्धता समीपस्थ के वियोग जनित होती है। नंदी वर्धन की स्तब्धता उनसे गहरी थी। वह रुदन एवं तत्वावबोध से दूर हो पाई। अतः ऐसा नहीं है कि मोह तंद्रा को दूर नहीं किया जा सकता है।

मोक्ष के लिए वीजा

संत को भय से रहित होना चाहिये। श्री मदाचारांग सूत्र कहता है वह अभीरु हो। भय उसे किसी भी तरफ से घेर न सके। भय उसके नजदीक भी न फटक सके। ऐसा तब हो सकता है जब आत्मा के अस्तित्व का सम्यक् बोध हो गया हो। जो केवल वाचिक रूप से कथन ही नहीं करता वैसा अनुभव भी करता हो। हकीकत में साधु अकिंचन होता है। अकिंचन को भय होगा भी कैसे ? जो कफन साथ ले घर से निकला है उसे भय काहे का। यदि भय है तो कह सकते हैं अभी अहिंसा की उस ऊँचाई को उसने छुआ नहीं है जिस ऊँचाई तक भय पहुँच ही नहीं सकता। महात्मा गांधी ने अपने साथी के पास रही रिवाल्वर फिंकवा दी। उसके तर्क के उत्तर में महात्मा ने यही कहा तुम्हें अहिंसा पर विश्वास नहीं होगा। मुझे उस पर पूरा भरोसा है। ऐसे भरोसे वाले को भय कहाँ घेर पायेगा।

सिकंदर के समय का भी एक ऐसा वाक्या है। भारतीय संत को वे साथ चलने को कहते हैं, पर वह कहता है मैं नहीं चलता। मुझे जरूरत नहीं है मैं क्यों चलूँ। बताया गया कि यह सिकंदर बादशाह है, संत ने कहा कोई भी हो मुझे उससे क्या लेना-देना। उसकी गर्दन उड़ाने का कहने पर उससे कहा तू शरीर को कत्ल कर सकता है। यह तो नाशवान है। इसका एक न एक दिन नाश होना ही है। तू मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। खंदक ऋषि ने अत्यन्त सहज रूप से चमड़ी खिंचवा ली। सेठ सुदर्शन सूली पर चढ़ने को तैयार हो गया आखिर क्यों ? सीता ने अग्नि स्नान किया क्यों ? उन्हें आत्मा की अखण्डता-शाश्वतता पर पूरा भरोसा था। अतः उन्हें भय छू भी नहीं सका।

धर्म, प्राणी को अभय बनाता है। धर्म आत्मा की पहचान कराता है। आज लोग अपना नकली बायोडाटा लिये घूमते रहते हैं। अपनी पहचान कराते रहते हैं। उन्हें स्वयं की पहचान करनी चाहिये। स्वयं की पहचान होगी तो वह निर्भय हो पायेगा एवं वह मुक्ति जाने की डिग्री, वीजा भी ले पायेगा। बनी अभय तो पाओ जय। जो करेगा अपनी पहचान वह करेगा मुक्ति संधान।

बीमारी लाईलाज नहीं है

एवरेस्ट की चढ़ाई दुरुह अवश्य है असंभव नहीं। यद्यपि एवरेस्ट पर भी हर कोई इनसान चढ़ नहीं सकता पर ऐसा भी नहीं है कि कोई चढ़ ही नहीं सकता। वैसे ही क्रोधादि को जीतना लाईलाज, असंभव नहीं है। कष्ट-साध्य कहा जा सकता है। यदि सच्ची बात करें तो क्रोध को जीतना उतना कष्ट साध्य भी नहीं है जितना कि व्यक्ति मानता है। अधिकांश व्यक्तियों ने यह मान लिया है कि क्रोध को जीत पाना शक्य नहीं है। इस मान्यता के कारण वह क्रोध को जीतने का उपाय-प्रयत्न भी नहीं करता। इसलिए आम जन को क्रोध को जीतना बड़ा भारी लगता है। उन्हें वह असाध्य लगता है। क्रोध अहंकार के सहारे खड़ा रहता है। अनेक बार क्रोध का कारण ही अहंकार हुआ करता है। अहंकार को जो ढहा सकता है उसके लिए क्रोध को ढहाना खास कठिन कार्य नहीं है। अहंकार को ढहाने का सुन्दर उपाय है, दूसरों के गुणों का सम्मान करना। दुर्गुण छद्मस्थ अवस्था में संभव है। चन्द्रमा में दाग होते हुए भी कवियों ने उसकी सौम्यतादि को नजर अंदाज नहीं किया। सूर्य भले ही कितना भी आग उगले पर उससे उसकी महत्ता कमतर नहीं हो गई। इसी प्रकार दुर्गुणी में कई दुर्गुण हो सकते हैं पर उसमें कोई अच्छा सा गुण भी अवश्य होगा। उसके गुण को देखने से, अहंकार शिथिल हो जाता है। अहंकार के शिथिल होते ही क्रोध भी शिथिल हो जाएगा। अतः क्रोध या अहंकार असाध्य है, ऐसी मन की धारणा को दूर निकाल फेंकना चाहिये।

कई व्यापारी यह मान कर चलते हैं कि व्यापार बिना झूठ के नहीं चल सकता। उनकी मान्यता कुछ अंशों में सत्य हो भी सकती है, उसका कारण भी व्यापारी ही हैं। उन्होंने वातावरण ही ऐसा बना रखा है। अधिकारी लोग विश्वास ही नहीं करेंगे कि यह सत्य-निष्ठ है। पर मैं यह विश्वास रखता हूँ कि यदि हमने दृढ़ता से सत्य को स्वीकार कर लिया तो आज नहीं, कल नहीं, पर एक दिन हमारी साख पुनः वैसी ही बन जायेगी जो पहले कभी रही थी। धीरे-धीरे सब समझने लग जायेंगे कि जैन झूठ से नाता नहीं रखते हैं। तब सत्य का प्रवाह एक तरफ चलने लगेगा। सत्य से व्यक्ति में इतनी दृढ़ता-आत्म विश्वास बन जाता है कि वह कभी असत्य की तरफ झंका ही नहीं सकता।

ज्योतिर्धर

आचार्य जवाहर जैन क्षितिज के जाज्वलमान नक्षत्र थे। उनके विचार आज भी जग को दिशा देने में समर्थ हैं। वह समय था राष्ट्रीय आन्दोलनों का। आजादी के भाव परवान पर थे। उस समय एक जैन मुनि अपनी मुनि भाषा में जितना कह सकता है उतना कहने में वे पीछे नहीं रहे। उनकी मान्यता थी कि गुलामी में धर्म की अराधना पूर्ण मनोयोग से नहीं हो सकती। गुलामी कहीं न कहीं अवरोध पैदा कर ही देती है। उनके उदात्त विचारों का उस समय इतना जबरदस्त प्रभाव था कि राष्ट्र के बड़े-बड़े दिग्गज राजनेता उनका सानिध्य पाते थे। महात्मा गांधी ने उनके विचार सुन यहाँ तक कह दिया कि भारत में दो जवाहर हैं। एक जवाहर लाल नेहरू दूसरे आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.। उन्होंने घड़ी की ओर इशारा करते हुए बताया बाहर जो काँटे चल रहे हैं उनके अनुसार जवाहर लाल नेहरू का काम है, पर भीतर की मशीन के रूप में आचार्य श्री जवाहर हैं। वस्तुतः उनके विचार बहुत ही स्पष्ट और मार्मिक थे। वे सत्यान्वेषक थे। शास्त्र क्या कहता है ? उसका हार्द क्या है ? वे उसके तल तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। व्युत्पन्न मति का तो कहना ही क्या ? तेरापंथ समुदाय द्वारा दया-दानादि के विषय फैलाये गये भ्रम का उन्होंने सचोट उत्तर दिया। एकता के क्षेत्र में उनके विचार अपनी शानी के ही थे। उनकी अवधारणा थी कि समस्त स्थानकवासी समाज को एक ही आचार्य के नेतृत्व में चलना चाहिये। ऐसा होने पर ही स्थानकवासी समाज की उन्नति हो सकती है। उनके इन विचारों को संवत् 1990 (सन् 1933) में हुए वृहत्त साधु सम्मेलन अजमेर ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी एवं वातावरण बनने पर संवत् 2009 में हुए साधु सम्मेलन में एक आचार्य के नेतृत्व के उद्देश्य को स्वीकार करते हुए श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के नाम से स्थापना की। उसके संचालन का दायित्व उन्हीं के पट्टधर आचार्य पूज्य श्री गणेशलालजी म.सा. को सौंपा गया। उनकी एकता भावनादि कारणों से जैन कान्फ्रेंस दिल्ली के तात्कालीन अधिवेशन उनके चातुर्मास स्थलों पर ही सम्पन्न हुए। उनकी दूर दृष्टि से उन्हें युग पुरुष कहा गया। उनकी वैचारिक देन से वे ज्योतिर्धर कहलाये। महापुरुष की महानता को 300-400 शब्दों में समेट पाना शक्य नहीं।

देखो, पानी सूख न जाय

कहा जाता है जमीं का पानी बहुत गहरा चला गया है। कहीं कहीं 200-300-400 फुट तक भी पानी नहीं मिल पाता। इसका कारण क्या है ? उस पर कौन कितना विचार करता है ? शहरों में प्रायः सड़कें बन गई हैं। सड़क व फुटपाथ के बाद कच्ची जमीन शेष रही ही नहीं है। नाले भी बने हैं तो पक्के जिससे धरती को पानी मिल ही नहीं पाता। जब उसकी ही प्यास न बुझे तो वह अन्यों की प्यास बुझावे ही कैसे ? जिस द्रह में जल की आवक न हो, जिस खजाने में धन की आवक न हो, वह कब तक देता रहेगा ? देते-देते एक दिन उसे खाली हो जाना है। ऐसा ही धरती के साथ पिछले समय में हुआ। परिणामस्वरूप उसके भीतर रहे पानी का स्टाक खत्म होता हुआ चला गया। जो नहरें पक्के फर्श की बनाई गई हैं उनमें लाखों-करोड़ों लीटर पानी बहता हुआ आगे तो जाता है पर नहरों के नीचे की भूमि प्यासी ही रह जाती है। जैसे नहरों की हालत है वैसी ही हमारे श्रोताओं के हाल तो नहीं हैं ? सनुते तो बहुत हैं। सुनने में कमी नहीं रखते। हजारों प्रवचन सुन लिए पर अन्तर भीगा या नहीं ? इसकी समीक्षा कौन करें ? सुनते हैं वह प्रवाहित हो जाता है। बह कर चला जाता है। जब तक धरती की तरह वह आत्मा की प्यास नहीं बुझायेगा तब तक हमारी दशा ऐसी बनी रह जाने वाली है। सुनना वह सार्थक है जो पचे एवं परिणत हो। खाना खा लेना ही महत्वपूर्ण नहीं। उसका पचना एवं रस बनना व धात्वादि रूप में परिणमन होना जरूरी है। ऐसा होने पर ही शरीर मजबूत-सुदृढ़ हो सकता है। अन्यथा कितना भी खाले शरीर पुष्ट नहीं बन सकता। इसी प्रकार केवल सुनने से आत्मा पुष्ट नहीं हो सकती। सुनकर जो स्वयं को संयमित बनायेगा वही आत्मा को पुष्ट बना सकता है। संयम वह रसायन है जिसके सेवन से कर्म रोग से जर्जरित आत्मा, आत्म तेज से दीप्त हो सकती है। आत्मा में वह तेजस्विता आ सकती है, जिसका अब तक वह कर्मावरण के कारण अनुभव नहीं कर पाई।

सुनना बुरा नहीं है, पर सुनने का सार निकाला जाय, प्यासी आत्मा तक श्रुति का जल पहुँचे

संयम : अपना आत्म-धन

संयम हमारा आत्म-धन है। हमारी अपनी सम्पत्ति है। परन्तु वह सम्पत्ति जमीन में गड़ी हुई के समान है। धरती में गड़ी हुई सम्पत्ति का व्यक्ति को जैसे ज्ञान नहीं होता वैसे ही आमजन को अपने में रहे हुए संयम धन का ज्ञान नहीं है। भूगर्भ वेत्ता भूमि को देख कर जान लेता है कि इस भूमि में क्या गड़ा हुआ है। इस भूमि से रत्न निकलने वाले हैं, यह भूमि स्वर्ण भूमि है। इसमें सोना निकलेगा, इसमें चांदी व अन्यान्य धातुएँ निकलेंगी। भूगर्भवेत्ता को भूमि विषयक ज्ञान होने से वह समझता है कि किस जगह कौन सा खनिज है। इसी प्रकार जो आत्म-ज्ञान पा लेता है, वह अपने में रहे हुए संयम धन को बहुत स्पष्ट जानने-देखने वाला हो जाता है। वह कभी उसे प्रकट कर सके या न कर सके पर उसकी आंखों से वह धन ओझल नहीं रहता। जिसे जमीन के भीतर रहे हुए धन को निकालने का लाइसेंस मिल जाता है, मजदूर वगैरह का योग बन जाता है वह उस भूमि से अपार धन को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार योग्य दिशा-निर्देशक व आत्म शक्ति मुखर हो जाती है तो वह व्यक्ति अपने संयम-धन का अधिकारी बन जाता है।

आज श्रीमती पुष्पा जी मेहता खेमाणा हाल मुकाम बैंगलुरु की विधिवत दीक्षा हुई। दीक्षा पाठ पढ़ाने के पहले व्यक्ति वंदनीय-पूजनीय नहीं होता। दीक्षा पाठ पढ़ाते ही वह वंदनीय-पूजनीय होता है। प्रश्न होता है कि इतनी देर में क्या बदल गया जिससे वह व्यक्ति वंदनीय बन गया है। दूध में जावण की मात्रा थोड़ी ही डाली जाती है वह दही बन जाता है। सौ-हजार रुपये का नोट एक कागज का टुकड़ा ही है, पर रिजर्व बैंक के अधिपति के हस्ताक्षर होते ही वह सौ-हजार मूल्य वाला बन गया। चेक बुक में राशि का अंकन किया हुआ है, पर बैंक वाला भुगतान नहीं करता क्योंकि चेक पर हस्ताक्षर नहीं है। हस्ताक्षर होते ही बैंक वाला चेक में लिखी राशि का पेमेंट कर देता है। उस कागज में क्या बदला ? केवल हस्ताक्षर ही न। हस्ताक्षर के बिना उसका मूल्य नहीं था। हस्ताक्षर होते ही वह कीमती हो गया। इसी प्रकार दीक्षा पाठ लेने वाला तैयारी पूर्वक आता है। हस्ताक्षर के समान जैसे ही उसे प्रतिज्ञा पाठ कराया जाता है उसके अध्यवसायों में केमिकली बदलाव आ जाता है। घुप अंधेरे में बल्ब का स्वीच ऑन करते ही अंधेरा

गूढ संदेश देती स्तुति

परमात्मा की स्तुति मनोरंजन का विषय नहीं है। स्तुति से गूढ संदेश ग्रहण करना होता है। जो मात्र मनोरंजन के लिए स्तुति करता है, अथवा उसे मनोरंजन का साधन मानता है, वह उससे मिलने वाले गूढ संदेश को प्राप्त नहीं कर सकता। गूढ संदेश को पाने के लिए अपने भीतर वैसी पात्रता लानी होगी। रंगरेज कपड़े को रंगने के पहले उसे रंग चढ़ने योग्य बनाता है। उसे धोकर उसका मैल दूर करता है। उस स्थिति में उस वस्त्र पर रंग अच्छा चढ़ जाता है। मैले कपड़े को यदि रंग दे तो रंग बराबर नहीं चढ़ पायेगा। कपड़ा रंग जाने योग्य हो जाने पर उसे रंगने पर वह ऐसा रंगा जाता है कि वह पहले कैसा था वह कालान्तर में याद ही नहीं रहता। इसी प्रकार गूढ संदेश के लिए व्यक्ति स्वयं को पात्र बनाये। वह यदि पात्र बन गया तो वह स्तुति के रंग में ऐसा रंगा जायेगा कि वह पहले कैसा था उसे स्वयं को ही स्मृति में नहीं रहेगा। जीव पिछले जन्मों में अनेक योनियों में भटका है। उसे कहाँ पता है कि वह किन-किन योनियों में भटका है।

स्तुति से गूढ संदेश, संकेत मिलता है। वह व्यक्ति को परमात्म बनने की दिशा में मोड़ने वाला होता है। स्तुति वह चुम्बक है जो भीतर सोये पड़े परमात्मा को जगा देता है। दूसरा— स्तुति वह दर्पण है जिसमें वह अपने असली रूप को निहार सकता है। जैसे दर्पण में दिखने वाले बिंब में व उसके सामने खड़े व्यक्ति के रूप में अन्तर नहीं होता वैसे ही आत्मा में व परमात्मा में अन्तर नहीं है। आत्मा जब परमात्म-अभिमुख होती है तभी उसे अपनी झलक अनुभूत होती है। दर्पण से भिन्न दिशा में मुंह रखने वाला अपनी झलक उसमें देख नहीं पाता। इसी प्रकार परमात्मा से विमुख व्यक्ति स्तुति कर भी रहा होता है तो उसे उसमें आत्मा की झलक दिख नहीं पायेगी। अतः स्तुति करने से पूर्व स्वयं को परमात्माभिमुख बनाना चाहिये। उसके बाद जो स्तुति होगी उस की लय-आत्मा की लय बन जायेगी। उसका रंग आत्मा का रंग बन पायेगा। वह आत्मा-परमात्मा के एकत्व की, अभिन्नता की अनुभूति कर पायेगा। उसका मूक भाव मुखर हो सकता है। तुझमें मुझे भेद नहीं है। एक रूप है मेरा। इस प्रकार गूढ ज्ञान वही आत्मा पा सकता है जो परमात्माभिमुख हो।

भोजन कब और कितना

देहधारी को भोजन-आहार करना होता है। चाहे वह पृथ्वी कायिक प्राणी है, वनस्पति कायिक अथवा त्रस कायिक। कोई भी देहधारी हो वह आहार ग्रहण करता है। साधु को भी आहार ग्रहण करना होता है। उसके लिए आहार ग्रहण करने के नियमोपनियम हैं। वह उन्हीं के धरातल पर शुद्ध आहार ग्रहण कर अपने जीवन का निर्वाह करता है। प्रश्न होगा साधु आहार कब करे। इसका उत्तर थोड़ा जटिल है। वर्तमान में आहार का समय प्रायः निर्धारित है। सुबह अमुक समय नाश्ता। अमुक समय पर भोजन। पर आगम-चिन्तन-मन्थन से ऐसा समझ में आता है कि साधु को जब भूख-क्षुधा लगे तब आहार करे। साधु के लिए बताया गया है क्षुधा वेदनीय को शान्त करने के लिए आहार करे। क्षुधा वेदनीय को यदि बीमारी माना जाय तो स्पष्ट है दवा कब लेना। बीमारी आने पर, वैसे ही क्षुधा लगने पर आहार करना। यदि बिना आहार के उसकी संयम चर्या चल रही हो तो वह क्षुधा का भेदन करना चालू रखे। यानी भूख उसे सताए नहीं। खाना मिला तो क्या, न मिला तो क्या।

साधु को क्षुधा लगने पर आहार करना, यह बात समझने के बाद एक बात और भी समझनी है वह यह कि आहार के पहले मत्सर-द्वेष भाव का परिहार करे। मत्सर भाव से किये गये भोजन का परिणाम साधना के अनुकूल नहीं हो पायेगा। वह मन को, तन को रुग्ण करने वाला होगा। जैसे जहर मिश्रिताहार अग्राह्य होता है वैसे मत्सर भाव युक्त स्थिति में आहार अग्राह्य होता है। क्योंकि द्वेष-ईर्ष्या का भाव, भाव जहर है, जो संयम को आत्मगुणों को जलाकर खाक बना देगा। द्वेषभाव के समय आहार करने का अर्थ है वह आहार द्वेष को भेंट चढ़ाना। सर्प को खिलाना। उससे द्वेष की वृद्धि होने की ही संभावना रहेगी। अतः मत्सर भाव से रहित हो आहार को प्रसन्नता पूर्वक साधना का प्रसाद मानकर सेवन करना चाहिये। उसे विचार करना चाहिये कि जो आहार ग्रहण कर रहा हूँ क्षुधा को शान्त करने के लिए कर रहा हूँ। मेरा उद्देश्य राग-द्वेष बढ़ाने का नहीं है। बस मकान मालिक को किराये देने के समान क्षुधा को तृप्त करने के लिए आहार कर रहा हूँ ताकि शरीर साधना में सहायक बना रह सके। पर हाँ भोजन भी उतना ही ग्रहण करे जिससे शरीर का निर्वाह हो सके। भरपेट भोजन तो करना ही नहीं चाहिये।

आस्तिक कौन ?

संस्कारों को बदल पाना बहुत कठिन होता है। तम्बाकू-शराब आदि जन्य अल्प कालीन संस्कार भी व्यक्ति छोड़ नहीं पाता। वह आनादि प्रवाह से चले आ रहे मोह, ममत्व, राग-द्वेष-कषायों के संस्कारों को आसानी से कहाँ छोड़ पायेगा ? संस्कारों को बदल पाना कठिन अवश्य है पर अशक्य-असंभव नहीं है। जो संस्कारों को असंभव मान लेता है वह उन्हें बदलने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता।

भारतीय जनता कितनी पाप भीरु है। वह कितनी आस्तिक है, इसका अन्दाजा लगा पाना कठिन है। बहुत लोग ऐसे हैं जो आत्मा-परमात्मा को न जानते हैं और न ही उनसे मतलब है, पर संस्कार है कि कोई परमात्मा है। परमात्मा का नाम ले लो कष्ट दूर हो जायेंगे। कष्ट दूर हो जायेंगे, इस पर ध्यान देना ? यह वाक्य क्या इंगित कर रहा है। वह अपने कष्टों को दूर करने के लिए परमात्मा को याद कर रहा है। यदि कोई सुखी व्यक्ति, धनाढ्य व्यक्ति याद कर रहा है तो उस के पीछे उसका क्या कारण है उसे भी जान लेना जरूरी है। वह परमात्मा को इसलिए याद कर रहा है कि भगवान मेरा सुख सलामत रहे। भगवान तुम्हारी दया है, वह बनी रहे। इस प्रकार के विचारों से कैसे समझा जाय कि व्यक्ति का अन्तर परमात्मा की ओर है। गुलामी में जीने का अभ्यासी होने से वह उस प्रकार विचारों से प्रभावित है, अतः परमात्मा को एक शासक-अधिकारी मान उसकी दया का याचक बना हुआ है। यह एक प्रकार से अज्ञान ही है। वह परमात्मा के स्वरूप को ही नहीं जानता है तो उसकी उपासना-साधना करेगा ही कैसे? बहुत सारे लोग कहीं भी सिंदुर लगा पत्थर भी देख लेते हैं तो वहीं झुकने लगते हैं। ये सारे अनादि-से प्रवाहित संस्कार ही कहे जा सकते हैं। भारतीय लोग लक्ष्मी जी को पूजते हैं, पर पूरे विश्व क्षितिज पर धनाढ्य लोगों में प्रथम नम्बर पर कोई भारतीय नहीं है। यदि इन संस्कारों के बदलने की बात करें तो व्यक्ति घबरा जाता है। उसे भय लगता है कि कहीं देवी-देवता कुपित न हो जाय। इस प्रकार के भय के साये में क्या धर्म की आराधना संभव है ? क्या आस्तिकता की थाह पाना संभव है। यदि परमात्मा को मानना ही आस्तिकता है तो भारत में बहुसंख्यक आस्तिक हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

मन बने ना वॉलीबॉल

हमारे मन की कमजोरी हमें धर्म श्रद्धा से दूर हटाती है। हमें अशान्ति में ले जाती है। हमें अनिश्चय में ले जाती है। हम संशयशील बन स्वयं को डाँवाडोल बना लेते हैं। न इधर पूर्ण विश्वास कर पाते हैं और न उधर ही विश्वास हो पाता है। मन दो पाटों के बीच इधर-उधर चक्कर लगाता रहता है। वॉलीबॉल के खेल की तरह एक बार बॉल इस पाले में तो दूसरी बार दूसरे पाले में। इधर के पाले वाला धक्का मारता है तो उस पाले में चला जाता है, उधर के पाले वाले धक्का लगाते हैं तो पुनः पहले वाले पाले में आ जाता है। पर स्थिर कहीं भी रह नहीं पाता। यही दशा हमारे कमजोर मन की बनी रहती है। न वह पूर्णतया अश्रद्धा में जा पाता है और न पूर्ण श्रद्धा में ही खड़ा रह पाता है। मन की यह दशा बड़ी खतरनाक है। इसे ही द्वन्द्व कहा जाता है। यह द्वन्द्व मन को दुविधा में डाल देता है। कहा भी जाता है- दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम। दुविधा से व्यक्ति दोनों तरफ से वंचित रह जाता है। अनिर्णयों से एक निर्णय महत्वपूर्ण होता है। निर्णय कभी गलत भी हो सकता है, पर वह गलत निर्णय भी कुछ न कुछ अनुभव बढ़ाने वाला होगा। जब दूसरी बार कुछ निर्णय करना होगा तो पहले वाले निर्णय में जो चूक रह गई वह इस बार उन चूकों को नहीं दोहराना चाहेगा। इस प्रकार उसका गलत निर्णय भी कहीं न कहीं लाभकारी सिद्ध होगा। अनिर्णय से एक गलत निर्णय को अहितकर नहीं कह सकते। निर्णय करने का साहस कम से कम उसे उस दिशा में बढ़ाने तो देता है। अनिर्णय तो उसे दुविधा में ही झुलाते रहता है। ऐसे कमजोर मन से परमात्म भक्ति या धर्म का आराधन नहीं हो सकता। किसी को कुछ भी विपरीत कहते हुए सुना जायेगा तो उसका कमजोर मन फुटबॉल या वॉलीबाल की तरह एक दूसरे पाले में जाता रहेगा। दीपक की लौ को प्रज्वलित रखने के लिए जैसे ग्लास लगा दिया जाता है वैसे नव तत्वों का ज्ञान ग्लास रूप में लगाकर कमजोर मन को मजबूत बनया जा सकता है, अस्थिर मन को स्थिरता प्रदान की जा सकती है। बशर्ते व्यक्ति इसके लिए तैयार हो।

बोली बोलें सोच के

भाषा एक अनमोल चीज है। उसे विचार कर ही बोलना चाहिये। बोली बिगड़े कामों को सुधार सकती है। श्री सूत्र कृतांग सूत्र में भाषा कैसे बोली जानी चाहिये उसका सुन्दर विवेचन मिलता है। श्री मद्दशवैकालिक सूत्र का सातवाँ अध्ययन तो लगभग भाषा के विषय में ही निरूपित है। श्रीमदाचारांग सूत्र, प्रश्न व्याकरण सूत्रादि में भी भाषा विवेक पर प्रकाश प्राप्त होता है। भाषा प्रीत लगा भी देती है और प्रीत भंग भी कर सकती है। भाषा ही एक ऐसा साधन है जो दूसरों से सम्बन्ध स्थापित कराता है। एक दूसरे के विचारों को उसी के आधार पर समझा जाता है। यदि भाषा नहीं होती तो तीर्थकर भगवन्तों का उपदेश, जो आचार्य परम्परा से आज हमें उपलब्ध है, वह कैसे मिल पाता। एक युग था तब मुखग्रही ज्ञान गंगा प्रवाहित होती थी। गुरु के मुख से ही वाचना स्वीकार की जाती थी। श्री मद्दशवैकालिक सूत्र में कहा भी है कि— ‘‘सोचा जाणई कल्लाण सोचा जाणई पावगं’ कल्याण मार्ग व पाप मार्ग को सुनकर ही समझा जा सकता है। शब्द होंगे तो ही सुने जायेंगे। भाषा शब्दों का पिंड रूप है। उसे सुनकर ही बोध प्राप्त होता है। एक मान्यतानुसार देशना लब्धि के बाद ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर पाता है। बोलने की क्षमता दो इन्द्रिय वाले, तीन और चार इन्द्रिय व पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी वर्ग को भी प्राप्त है। पर जो मनुष्य को प्राप्त है वह सबसे बेहतर है। ऐसी भाषा की शक्ति को पाकर उसका कैसे उपयोग करना चाहिये, यह व्यक्ति को बोलने के पूर्व तय करना चाहिये। जो बोलें उसे सोच विचार कर बोलें। उसके बोलने का क्या परिणाम हो सकता है इसे ध्यान में बोलने से पहले ही ले लेना चाहिये। बोलते हुए व्यक्ति का चित्त प्रसन्नता से भरा हुआ होना चाहिये एवं सुनने वाले को भी प्रमोद-प्रसन्नता पैदा होनी चाहिये। बोली गंवार व्यक्ति भी बोलता है एवं सभ्य सुसंस्कारी व्यक्ति भी। बोली से व्यक्ति की उच्चता का बोध हो जाता है। एक प्रजा चक्षु ने बोली के आधार पर यह बता दिया था कि अमुक सिपाही है, अमुक दीवान है एवं अमुक राजा है। बोली ऊँची भी, सम्माननीय भी होनी चाहिये। साथ में मधुर भी हो। ऊँची-सम्माननीय भाषा हो पर कर्कश हो तो वह उतनी प्रभावी नहीं होती। दूसरे के कलेजे में तीर की तरह चुभे, ऐसी भाषा का प्रयोग तो करना

वैराग्य खो न जाय

एक पुरुष, एक स्त्री यात्रा के लिए रवाना हुए। रेलवे स्टेशन पहुँचना था। पुरुष तेज गति से पहुँच गया, पर टिकट स्त्री के पास थी। वह पहुँची तब तक रेल निकल चुकी। ऐसा हुआ हो या न हुआ हो पर ज्ञान और क्रिया-आचार के सम्बन्ध में यह बात शत प्रतिशत लागू होती है। ज्ञान की दृष्टि से विकास हो पर अनुष्ठानों-प्रति लेखन, प्रतिक्रमण, ईर्या-भाषा-आदान भण्डमात्र निक्षेपण के प्रति जागरूकता किंवा बहुमान न हो, वह पिछड़ जाये तो वैसी स्थिति में आराधना की रेल मिल भी पायेगी या नहीं, यह अवश्य विचारणीय है। ज्ञान को तेजस्विता में, ज्ञान की खोज में संवेग एवं निर्वेद (वैराग्य) के भाव खो नहीं जाने चाहिये। श्रमणत्व वैराग्य-निष्ठ होना चाहिये। ज्ञान कम हो या ज्यादा चलेगा, पर वैराग्य कम नहीं होना चाहिये। वैराग्य भाव क्रियाओं के प्रति भक्ति बहुमान रखता है। वैराग्य की मंदता ज्ञान की अधिकता संयमी चर्या के प्रति बहुमान नहीं रख पाता। उस समय क्रियाएं होती जरूर हैं, पर क्रियाएं रसहीन लगती हैं। क्रिया करने वाला स्वयं जब उनके प्रति रुचिशील नहीं होगा तो उसे उनमें रस आयेगा ही कैसे ? वह ले दे के उन क्रियाओं को सम्पन्न करेगा। चूंकि समाचारी का नियम है। नहीं करने पर दूसरे साधु उसके विषय में क्या सोचेंगे इत्यादि मानसिक भाव बन जाना स्पष्ट करता है कि उसका ज्ञान के प्रति तो लगाव है पर संयमी चर्या पर वैसा नहीं, जैसा कि होना चाहिये। ज्ञान-गर्भित वैराग्य ज्ञान के साथ-साथ अनुष्ठानों के प्रति भी समतोल बनाए रखता है। वह जितना ज्ञान को महत्व देता है संयमी चर्या को उससे कमतर नहीं समझता। प्रति लेखन का कार्य है तो वह भी महत्वपूर्ण है। गोचरी-पानी लाने जाना है तो वह भी महत्व वाला है। प्रतिक्रमणादि कोई भी क्रिया हो वह उसमें दत्त-चित्त होगा। वह उसी में रमने वाला होगा। ऐसा करने वाला ही संयम का सच्चा आनन्द ले पायेगा। ज्ञान की लगन तो रहे पर अन्य कार्यों-संयमी चर्याओं के प्रति उपेक्षा होना, सही रास्ता नहीं है। इससे भटकने की संभावना बढ़ जाती है। आराधना के स्थान पर विराधना का प्रसंग न बन जाय, यह संयमी मुनि को सोचने का विषय बनता है। ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा अच्छी है, पर ज्ञान पचना भी चाहिये। उससे गाम्भीर्य-धैर्य-सहिष्णुता बढ़नी चाहिये। उसके स्थान पर यदि चांचल्य वृद्धि पा रहा हो तो तत्काल

हित की बात सुने चितचाय

गलती छद्मस्थ से होती है सर्वज्ञ से नहीं। गलती से व्यक्ति को घबरा नहीं जाना चाहिये। गलती को सुधारने का लक्ष्य रखा जाना चाहिये। गलती होने पर यदि हितैषी हित बोध दे तो उसे सुनना चाहिये। स्वीकार करना चाहिये। ऐसा नहीं कि कोई कहे तो व्यक्ति सुस्त हो, उदास हो बैठ जाए। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति को किसी के द्वारा हित भावना से हितकारी बात कहे जाने पर उसे सुहाती नहीं है। वह बोल पाने की स्थिति में होता है तो बोल कर कुछ कह देता है। यदि बोल पाने की स्थिति में नहीं होता है तो मन ही मन खिन्न हो स्वयं को अवसन्न बना लेता है। चेहरा उदास हो जाता है। शरीर शिथिल हो जाता है। वह कुछ बोल तो नहीं पाता पर अन्दर ही अन्दर उसे भयंकर घुटन होती रहती है। प्रश्न होता है, ऐसा क्यों होता है? क्या वह समझता नहीं है कि जो बात कही जा रही है, वह हितकारी है। वह समझता तो है पर जैसे पेट में गैस भरी हुई हो तो खाने की रुचि कम पड़ जाती है, खाना अच्छा नहीं लगता वैसे ही अहंकार की गैस, स्वयं को ज्यादा समझने की गैस जब भीतर में भरी होती है तब उसे हितकर बात न भाती है न सुहाती है। वह अपनी समझ को ही महत्वपूर्ण समझता है।

अपनी समझ पर व्यक्ति को भरोसेमंद होना उत्तम है, पर उसकी समझ उसे खुशहाल, प्रसन्न बनाने वाली होनी चाहिये, न कि वह अपनी ही समझ से अपनी दीवारों की ईंटें उतारता रहे और आंसू बहाता रहे। ऐसा यदि उसकी समझ का परिणाम आता हो तो उसे अपनी समझ को मेकेनिक से सुधरवाने का लक्ष्य रखना चाहिये। कुल मिलाकर उसकी जिंदगी प्रसन्नता-प्रफुल्लता में व्यतीत होनी चाहिये। उसे समझ लेना चाहिये कि जिंदगी में हित की बात कहने वाले बहुत कम होते हैं। यदि कोई हित की बात कहे तो सुनना चाहिये। समझने का प्रयत्न करना चाहिये एवं बिना प्रमाद के उसे

पहला प्रयोग अपने पर

(1) उपदेश बड़ा प्रिय लगता है। सुनते रहने का मन करता है। उसका कारण है वह सार्वजनिक है। वही उपदेश यदि उसे अलग से दिया जाने लगे तो उसे काफी कठिनाई की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि उस समय उसे लगता है कि उपदेश उसके लिए है। होना तो यह चाहिये कि उसे कोई उपदेश दे तो वह उसे प्रमुदित भाव से यथातथ्य स्वीकार करे, उसका उपकार माने। भोजन जब कोई उसको पास बिठाकर मनुहार पूर्वक परोसे एवं खिलाये तो मन कितना प्रसन्न होता है। वही भोजन यदि हाथों से उछाल-उछाल कर फेंकते हुए डाले जैसे कि अनेक श्वानों के बीच डाला जाता है तो कैसा लगेगा? जैसे फेंका हुआ भोजन अच्छा नहीं लगता, पास बिठाकर परोसे जाने वाला भोजन ही रुचिकर लगता है, वैसे ही व्यक्तिगत दिया जाने वाला उपदेश भी मन को भाना चाहिये। अच्छा लगना चाहिये।

(2) व्यक्ति बहुत सुनता है, बहुत विचार करता है पर मौके पर जब जीवन में आचरित करना हो तो सब भूल जाता है। उस समय वे नुस्खे याद ही नहीं आते। यदि समय पर वे नुस्खे-‘टिप्स’ उपयोग में न आए तो उनका क्या मूल्य है। दूसरों के लिए जितने टिप्स उपयोग में लाये जाते हैं, स्वयं के लिए वे सारे टिप्स निरर्थक हो जाते हैं। वस्तुतः उपदेश देना व आचरण करना, दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। भगवान महावीर पहले आचरित करते गये। अपने जीवन पर प्रयोग करते रहे। जब वे समग्र आचरण कर चुके तब उनका वचन प्रवाह प्रारम्भ हुआ। उनका सारा कथन अनुभूति से सराबोर था। वर्तमान में वह स्थिति तो नहीं है, फिर भी उपदेश को उपशान्त भाव का अवश्य आसेवन करना चाहिये। कठिन परिस्थितियों में भी उसका धैर्य खण्डित नहीं होना चाहिये। इसके लिए उसे अवश्य स्वयं को साधने का प्रयत्न करना होगा। यदि कभी उसमें आवेग उठने लगे तो उसे विचार करना चाहिये कि यही तो वह क्षण है, जिस क्षण में स्वयं को शान्त रखना है। यदि यह क्षण हाथ से निकल गया, ऐसे क्षणों को खो दिया तो तू स्वयं को साध नहीं पायेगा। जो भी प्रयोग करना चाहे पहले अपने पर उसे प्रयुक्त करना चाहिये। उसके बाद उसे दूसरे को बांटना चाहिये।

गुण ग्रहण का भाव रहे नित

श्रद्धा बहुमूल्य है, अमूल्य है। ऐसा होने पर भी वह जीवन से खिसक क्यों जाती है ? क्या कारण है कि श्रद्धावान व्यक्ति श्रद्धाहीन बन जाता है। वह क्या करे कि उसका श्रद्धा भाव बना रह सके।

श्रद्धा जाना या आना व्यक्ति के ही हाथ में है। वह चाहे तो श्रद्धा को रख सकता है, चाहे तो श्रद्धा को डाँवाडोल बना सकता है। व्यक्ति जब छिद्र देखने लगता है तो वह छिद्र में ही घुस जाता है। उसका हृदय छिद्रों से भर जाता है। वही व्यक्ति यदि गुणों पर दृष्टि को जमाये तो वह श्रद्धा से अभिभूत हो जायेगा। श्रद्धा को बनाये रखने के लिए अपनी दृष्टि को गुणमय रखना जरूरी है जबकि दोषों पर दृष्टि जल्दी चली जाती है। उसने स्वयं देखा हो, न देखा हो यदि किसी से किसी के प्रति कुछ सुन भी लेता है तो वह उस बात की धारणा बना लेता है। किसी सद्गुणों की कोई बात होगी तो वह उस पर उतना विश्वास करेगा या नहीं पर किसी के विषय में गंदी बात सुनेगा तो उसे बहुत जल्दी स्वीकार कर लेता है। वैसी ही अपनी मान्यता बना लेता है। वह मान्यता ही उसे श्रद्धा से विचलित करने वाली होती है। वह मान्यता जितनी घनीभूत होती हुई चली जाती है श्रद्धा उतनी ही शिथिल होने लगती है एवं वहाँ से हटने लगती है। एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं। नहीं रह सकती। वैसे ही अश्रद्धा व श्रद्धा एक साथ नहीं रह सकती।

जो दूसरों के दुर्गुणों पर दृष्टि डालता है, वह अपने दुर्गुणों को ढकने का प्रयत्न करता है। जब व्यक्ति अपने दुर्गुण ढकने लगता है तो दुर्गुण उसके भीतर गन्ध मारने लगते हैं। परिणाम स्वरूप श्रद्धा लड़खड़ाने लगती है। उसे यह नहीं भूलना चाहिये कि वह किसी के दुर्गुणों का देख-देख अपने को उखरड़ी, कचरा-पेटी बना रहा होता है। अपने घर के सामने भी लोग कचरा पेटी लगाने नहीं देते पर व्यक्ति स्वयं का दिल कचरा पेटी के लिए देने को तैयार है, इससे ज्यादा और उससे क्या चाहिये। क्या इसे उसकी उदारता नहीं समझी जाय ? यह उदारता नहीं उसकी नादानी है। व्यक्ति को श्रद्धा भाव बनाये रखना हो तो उसे गुण ग्रहण का भाव रखना चाहिये। मेरी भावना में कहा है- गुण ग्रहण का भाव रहे

अकिंचन क्यों देखे कंचन को

नेगेटिव-पॉजीटिव तारों से जुड़ते ही विद्युत का प्रवाह चालू हो जाता है। संयम-साधु जीवन में दो तत्व रहे हए हैं। एक बाह्य व दूसरा आन्तर। बाहर पोशाक आदि परिचय का मुख्य साधन है, जबकि अन्तर में भाव वैसा होना चाहिये। महाव्रत के पाठ जो गुरु से ग्रहण किये जाते हैं वह उपचार है। वह जैसे-जैसे अन्दर भावों में पैठता है, जीवन बदल जाता है। ऊपरी स्थिति में साधक को सावधान रहते हुए उस प्रकार से क्रियाएं करना होता है जबकि आन्तर परिवर्तन होते ही बाहर की चर्या में परिवर्तन घटित होने लगता है। भाव साधुता का महत्व है उसमें कोई दो राय नहीं है, पर स्थविरकल्पी साधु को बाह्य एवं आयन्तर दोनों स्थितियों से जुड़ना जरूरी है। वह यदि साधु परिवेश स्वीकार नहीं करे तो उसमें साधु का व्यपदेश नहीं हो सकता। वह साधुता का पालन भी आसानी से नहीं कर सकता। इसलिए तीर्थकर देवों ने उसके लिए बाह्य परिवेश का भी कथन किया है। पर उसे बाह्य परिवेश में ही अटककर नहीं रह जाना चाहिये, उसे अपने अन्तर का परिशोधन करते रहना चाहिये। अन्तर की कठिनाई राग-द्वेष-कषाय-बड़प्पनादि हैं। ये अवस्थाएं जब तक बनी रहती हैं तब तक साधक आत्म-विकास में समर्थ नहीं हो पाता। संयम लेते वक्त परिवेश (वेश) परिवर्तन किया जाता है। वैसे ही साधक को अन्तर-परिवर्तन का भी लक्ष्य रखना चाहिये। खास तो अन्तर का ही परिवर्तन है। साधु जैसे अपने चेहरे के आकार-प्रकार को भूल जाता है, वैसे ही उसे अपने बड़प्पन को भी भुला देना चाहिये। उसके मन में यह विचार ही न हो कि उसने महत् सम्पत्ति का त्याग किया है। यदि कभी उसके मन में ऐसा कोई विचार उठ भी जाय तो वह उसे तत्काल निकालने का प्रयास करे। उसे सोचना चाहिये कि मैंने अनेक जन्मों में दीन-हीन अवस्था भी पाई है। नरक-निगोद में मेरे पास क्या था ? कुछ भी तो नहीं, केवल कषायों-विभावों के। तो क्या अभी भी मैं कषायों में वैसे ही स्वयं को बनाये रखूँ। क्या धन-वैभव किसी का सदा-सदा साथी-सहयोगी रहा है। वह तो हाथ के मैल तुल्य है। इसके अलावा जिसका मैंने त्याग ही

तुझमें भी वह मौजूद है

सत्त्ववान व अल्प सत्त्ववान पुरुषों की पहचान उनके व्यवहार हो सकती है- हो जाती है। सत्त्ववान व्यक्ति विपत्ति में धैर्य बनाये रखता है, अधीर नहीं होता। इससे विपरीत अल्प सत्त्ववान व्यक्ति थोड़ी सी कठिनाई आ जाने पर भी धैर्य नहीं रख पाता। वह अधीर हो जाता है। लोहा ज्यादा शोर मचाता है जबकि सोना सहता है। तपने पर दोनों लाल हो जाते हैं पर ठण्डा पड़ने पर लोहा काला पड़ जाता है और सोना चमकने लगता है, कुन्दन बन जाता है। इससे जातीय धातु की भी पहचान हो जाती है एवं अन्य धातु की भी। इसी प्रकार मनुष्य की परीक्षा या पहचान होती है। जो भी सत्त्वशाली मानव थे या हैं, वे अदम्य साहस के साथ कठिनाई को सीने से लगाते हैं। उनके सीने की साहस रूपी उष्मा से कठिनाइयाँ पिघल जाती हैं। इसलिए उत्तम पुरुष कठिनाइयों को कठिनाई समझते ही नहीं। वे उसे अपना मन बहलाव या खेल समझते हैं। भगवान महावीर की आत्मा ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में खेल ही खेल में केशरी सिंह के दो फाड़ कर दिये थे, जो कि अन्यो से वश में ही नहीं हो पा रहा था।

राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य की कड़ी परीक्षा दी, सनत कुमार चक्रवर्ती से देव दो बार हार गया। इतिहास के पृष्ठ ऐसे वीर पुरुषों से पटे पड़े हैं। उनको पढ़ते तो कई लोग हैं पर अपना शौर्य जगा नहीं पाते। यह मत सोचो कि वे तो वे ही थे, हम उनकी बराबरी कहाँ कर पायेंगे? ऐसा सोचने वाला स्वयं को बचाने के मूड में रहता है। वह अपनी आत्म-शक्तियों को जगाने में समर्थ नहीं हो सकता। ध्यान रहे! कुछ विशेषताएं जन्म से, आनुवंशिक रूप से भी हो सकती हैं तो अनेक विशेषताएं संयोग जन्य होती हैं। जो उस प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क से बढ़ती-बिगड़ती रहती हैं। जम्बू कुमार भरे यौवन में शादी के दूजे दिन ही दीक्षित हो गये। यह विशेषता आर्य सुधर्मा-स्वामी के सम्पर्क में आने से उनमें आई। कहने का आशय यह है कि सारी विशेषताएं जन्म से ही नहीं व्यक्ति बाद में भी प्रयत्न पूर्वक प्राप्त कर सकता है। अतः मन को कमजोर करने के बजाय उसे उत्साहित करना चाहिये।

महावीर सी मस्ती में जीओ

चातुमारस में रहने वाले मुनि स्वयं को निर्लेप बनाये रखें। गाय का पोटा, गोबर जब उठाया जाता है वह थोड़ी मिट्टी लेकर उठता है, पर साधु कुछ भी लेकर न उठे। हो सके तो उसे स्वयं को हल्का करना चाहिये। उसे ऐसी साधना में स्वयं को लगाना चाहिये कि उस स्थान से विहार करते समय उसके मन में ऐसा विकल्प ही पैदा न हो कि उसे यहाँ से विहार करना पड़ रहा है। भले लोग बिलख रहे हों, पर उसे प्रसन्न-चित्त रहना चाहिये। उसके लिए जैसा कल था, वैसा ही आज है। क्षेत्र का परिवर्तन हो सकता है, जो कि एक मर्यादा है। मर्यादा पालन में ही उसे मोद होना चाहिये। वह भगवान प्रभु महावीर की आज्ञा को ही सर्वोपरि समझे। उससे समझौता करने की समझ अपने में पैदा न होने दे। उसने जिस समझ से संयम पथ स्वीकार किया है, वही उसके लिए श्रेयस् है।

परमात्मा महावीर की परम सत्ता को देख। वह परम सत्ता तुम्हारे भीतर भी है। उस परम सत्ता से आत्मा-परमात्मा बन जाती है। अतः उस परम स्वरूप को अपने से कभी ओझल मत होने दो। तुम्हें बहकाने के लिए कितने ही स्नेहासिक्त झोंके आ सकते हैं। वे तुम्हें अपने वात्सल्य से सराबोर कर सकते हैं। उनके वात्सल्य से तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। तुम्हें अडोल-अकम्प बने रहने की जरूरत है। देखो! एक बार ध्यान लगाकर प्रभु महावीर को, जिनको संगम उपसर्ग कर रहा है, पर प्रभु अपने में ही स्थित हैं। न देव के सहयोग की चाह है, न इन्द्र की ही अपेक्षा। बस स्वयं से स्वयं की शोध में ही लगे हुए हैं। संगम हो या अन्य कोई भी उनको प्रकंपित करने में समर्थ नहीं हुए। परिषह चाहे अनुकूल आए या प्रतिकूल, एक रूप बने रहो। यही तुम्हारे लिए सार्थक है। हवाएं अनुकूल-प्रतिकूल बहती रहती हैं। बहती रहेंगी। क्या हवाएं तुम्हारा रुख मोड़ सकती हैं? क्या हवाएं तुम्हारी दिशा हैं? नहीं, कथमपि नहीं। तुम्हें न हवाएं रोक सकती हैं न तुम्हारी दिशा ही बदल सकती हैं। ऐसी विचारधारा यदि तुम्हारी रहेगी तो चार माह के लम्बे संसर्ग का तुम पर कुछ भी असर न होगा। तुम स्वयं को यथावत बनाये रख सकते हो।

आत्म विकासी तत्त्वत्री

आत्म-विकास के लिए जरूरी तत्व है- अभय, निशंक एवं अखिन्न। व्यक्ति अन्तर में भयपालता रहता है। भय जीवनी शक्ति को लीलने वाला है। उससे व्यक्ति का उत्साह मंद पड़ जाता है। क्रियाशीलता भी प्रभावित होती है। भय में भी कल्पना के भय का तोड़ नहीं है। कल्पना के भय से व्यक्ति अपने आप से भयभीत होता रहता है। भय की दिशा नकारात्मक होती है। वह जल्दी से सकारात्मक सोच ही नहीं सकता। कल्पना के भय की शृंखला अंतहीन होती है। उसमें आगे से आगे कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं। काल्पनिक भयाक्रान्त व्यक्ति की मनोदशा ही वैसी बन जाती है। उसमें जो भी विचार रखें जाएं, कोई उसे समझाने का भी प्रयत्न करे, उन्हें वह भय रूप में बदल लेता है अथवा अर्थ का अति अर्थ लगा वह उस अर्थ को विकृत कर लेने की स्थिति में रहता है। वह ऐसा जान बूझकर करे या न करे पर उसकी आदत वैसी बन जाती है। जब तक उसके भीतर की ग्रन्थियाँ दूर नहीं हो जाती तब तक उसकी मनःस्थिति में सुधार आना कठिन है। और तो क्या ऐसे व्यक्ति कई बार अपनी ही छाया से भीत हो जाते हैं। कई बार थोड़ी सी जोर से आवाज कहीं भी हो, उनके कर्ण गोचर हो जाय, तो वह चौंक जाता है। अधिकांश ऐसे व्यक्ति वहम के शिकार होते हैं। उसे दर्शाने के लिए बताया जाता है कि महामारी से पूछा गया तू कितनों को मारेगी, उसने कहा पाँच सौ लोगों को, पर लोग मरे पूरे पाँच हजार। इस विषय में जब उससे पूछा गया कि तुमने तो पाँच सौ लोगों को मारने का कहा पर मरने वालों के आँकड़े पाँच हजार बताये जा रहे हैं। उसने कहा- मैंने तो पाँच सौ ही मारे शेष लोग भय-वहम से ही मर गये। मैंने उनको छुआ भी नहीं। यह घटना शायद न घटी हो पर मनोविज्ञान की दृष्टि से यह रूपक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति मन से ही कल्पना लोक में सफर करने लग जाते हैं। सावन के अंधे को हरा ही हरा नजर आता है। ऐसे व्यक्ति को भी सारे बेगाने ही बेगाने दृष्टिगत होते हैं। वह सहसा किसी पर भी विश्वास नहीं कर पाता। भय वाला शंकाशील भी बना रहता है एवं खिन्न-अवसन्न भी होता रहता है। इससे आत्म गुणों का हास होता

अशान्ति का कारण वह नहीं

शान्ति के लिए किन्ही गिरि कन्दराओं में भटकने की जरूरत नहीं है। गिरि कन्दराओं में ही शान्ति होती तो लोग वहीं वास कर लेते। वस्तुतः शान्ति को पाने के लिए उसे समझना जरूरी है। पहले यह विचार किया जाय कि अशान्ति है क्या ? अशान्ति पैदा कहाँ होती है ? कैसे होती है ? अधिकांश लोग अशान्ति का ठीकरा किसी अन्य पर फोड़ने को तत्पर रहते हैं। बल्कि दूसरे को ही दोष देते हैं। यथार्थ में विचार करें तो अशान्ति के जो कारण माने जा रहे हैं, वे उसके हेतु कारण हैं ही नहीं। यदि वे ही कारण अशान्ति को पैदा करने वाले हैं तो वीतराग भगवन्तों में भी वह अशान्ति पैदा होनी चाहिये। पर ऐसा होता नहीं है। भले गोशालक ने प्रयत्न किये हों, भले ही जमालि आदि ने पर प्रुभ को कोई अशान्ति नहीं हुई। वीतरागता के पूर्व भी उनके साथ बुरा बर्ताव करने वाले कम नहीं थे, पर छद्मस्थावस्था में भी वे अशान्त नहीं हुए। इससे स्पष्ट होता है कि आम जन जिसे अशान्ति का कारण मानते हैं, वह अशान्ति का कारण नहीं है। अशान्ति व्यक्ति स्वयं पैदा करता है। वह यदि उसका ग्राहक न बने तो उसे कौन अशान्त बना सकता है। यदि कोई अशान्त नहीं बनना चाहता हो तो उसे दिमाग से पहले यह निकाल फेंकना चाहिये कि अशान्ति का कारण कोई दूसरा है। दूसरा कोई कितना भी इशारा करे या कुछ भी करे वह उसका ग्राहक नहीं बने। कोई दुकानदार माल लुटाना चाहे पर कोई लेने वाला ही न हो तो वह माल उसी का रहता है। वैसे ही कोई किसी को कितना भी अशान्त बनाने का प्रयास करे पर जिसे अशान्त होना ही नहीं हो, उसे वह माल स्वीकार ही नहीं करना चाहिये। उसे कह सकता है भाई साहब, इस माल की मुझे जरूरत नहीं है। अथवा मौन भी रख सकता है। वह बस इतना भर करे कि दूसरों की चाबी अपने में भरे नहीं। यदि इतनी तैयारी हो जायेगी तो वह अशान्त हो ही नहीं सकता। जब भी कोई अशान्त होता है, उसका कारण वह स्वयं होता है, दूसरा नहीं। अशान्ति को दूर करने के लिए शान्ति की माला फेरना, शान्ति नाथ भगवान से शान्ति की मांग करना, शान्ति की चाह करना व्यर्थ है। करना ही हो तो बस इतना करे कि वह अशान्त न हो। वह शान्ति पा जायेगा। वह शान्ति को जीने लगेगा। बाजी स्वयं के

अति भार मत लाद

मन का कार्य है मनन करना। इसका अर्थ यह नहीं है कि उससे मनन करवाया ही जाता रहे। और कुछ न हो तो पीसे हुए को पिसाते रहे। पिष्ट-पेषण करवाना व्यक्ति के कार्यकारी शक्ति का शोषण है। व्यक्ति में कार्य क्षमता है तो उसका मतलब नहीं कि उसे कहा जाय कि समुद्र का पानी खाली करो। मनन करना मन का कार्य है। वह मनन करता है पर पुनः पुनः एक ही बात पर उससे मनन करवाते रहना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति जब पैदा होती है तो कई लोग नेगेटिव, नकारात्मक सोच में चले जाते हैं। मन से मनन कराना है तो उसके समक्ष सूर्योदय के साथ कोई न कोई नया विषय दो। दूसरे दिन वही विषय सामान्यतया नहीं होना चाहिये। यदि ऐसी कार्य पद्धति अपनाई जायेगी तो मन नित नया प्रोडक्ट करने वाला बन जायेगा। वह सदा ड्यूटी पर तरोताजा हो आयेगा। उसकी ताजगी में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उसमें नकारात्मक विचार पैदा ही नहीं होंगे।

मनुष्य के मस्तिष्क ने बहुत सारे आविष्कार किये हैं। वह पक्षियों की तरह आकाश में उड़ सकता है। पक्षी जितना द्रुत गति से नहीं उड़ पाता है मनुष्य विमान द्वारा कई गुना तीव्रता से गति करने में समर्थ है। ऐसे अनेक आविष्कार वैज्ञानिकों ने किये। उसमें उनका मन प्रतिदिन तरो ताजगी पूर्वक मनन करता रहा। यदि मन तेली के बैल की तरह एक ही स्थान पर फेरी लगाता रहता, एक स्थान पर खड़े-खड़े व्यायाम करता रहता तो आविष्कार रूप जो अवदान मानव जाति को मिला वह नहीं मिल पाता। मन की क्षमता देख उसके समक्ष विषय प्रस्तुत किया जाना चाहिये। यदि अतिरिक्त भार लाद दिया जायेगा तो न कार्य सफल हो पायेगा और न मन तरोताजा ही रह पायेगा। एक कार्य की सफलता मिलने पर दूसरे कार्य को करने के लिए वह उत्साहित हो जाता है। उत्साहित बना रहता है। कार्य करने में समर्थ व्यक्ति जैसे कार्य को दृढ़ लेता है, वैसे ही कार्यकारी मन भी कार्य को, अपने मनन योग्य विषय की खोज कर लेता है। वह उस कार्य में सफल हो पाता है, यही उसका प्रोत्साहन है। इसी से उसमें कार्यकारी क्षमता बढ़ती

सर्व मंगल रूप बनो

जो तुम्हारे लिए काँटे बो रहा है, जो तुमसे दुश्मनी रख रहा है, उसके प्रति तुम्हारा करुणा स्रोत प्रवाहित होना चाहिये। क्यों ? यदि यह प्रश्न करते हो तो सुनो। वह तुम्हारे लिए स्वयं को कितना खतरे में डाल रहा है। वह इतना खतरा उठाए तो क्या तुम उसके लिए थोड़ी सी सहानुभूति भी नहीं रख सकते ? संतप्त अवस्था को शान्त करने का यही एक सुन्दर उपाय है। क्या खून का दाग खून से धोया जा सकता है? नहीं। क्या आग से आग बुझाई जा सकती है? नहीं! वैसे ही बैर से बैर धोया नहीं जा सकता। कांटा लगाने की तुमने भी यदि ठानी हो तो वह तुम्हारे हक में ठीक नहीं होगा। क्या तुम नहीं जानते 'ताहे फूल को फूल है वाको है त्रिशूल' अर्थात् तुम फूल बोवोगे तो तुम्हें फूलों की खुशबू ही मिलेगी। कांटा बोने वाले को कांटा। तुम भी यदि काँटा बोने लगोगे तो तुम्हें फूल की खुशबू कहाँ से मिलेगी ? तुम काँटे बोने वाले को अपना हितैषी समझो। वह काँटे की बाड़ लगा, तुम्हें सुरक्षित बना रहा है। वह यदि दुश्मनी भी पाल रहा है तो सोचो उसने तुमको दिल में स्थान दिया है। तुम भारत के न्यूज पेपर देखो, उसमें अमेरिका जैसे देश का विषय, नाम नहीं मिलेगा, जबकि पाकिस्तान का नाम शायद हर पेपर पर मिल जाये। सोचो ! पाकिस्तान का पूरे विश्व में नाम किसने फैलाया ? भारत में प्रधान मंत्री मोदी ने पाकिस्तान की चर्चा प्रायः पूरे विश्व में की है। राम को रावण जितना धन्यवाद दे कम है, जिसकी बदालौत आज भी वह जिंदा है। राम का नाम रोशन करने में रावण की भूमिका को भी क्या कोई नकार सकता है ? व्यक्तित्व के निर्माण में परोक्ष-प्रत्यक्ष पता नहीं कितने-कितने लोगों का योग बन जाता है। अतः उनका भी कहीं न कहीं उपकार का संयोग बन जाता है। आचार्य अमितगति ने कितनी सुन्दर बात कही है - 'किलेषु, जीवेषु कृपा परत्वम्' किलष्ट मनो वृत्ति वाले के प्रति कृपा भाव रहना चाहिये। वह कृपा का पात्र है। कृपा पात्र पर कृपा न हो तो फिर उस कृपा का मतलब ही क्या? कुल मिलाकर कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति हिताहित का बोध नहीं कर पाता है, उसके प्रति कारुण्य भाव का स्रोत बहाना चाहिये।

तुम सावधान रहो, तुम्हारी कोई भी प्रवृत्ति तुम्हारे लिए तो घातक हो ही नहीं, दूसरों को भी कष्टदायक न बने। तुम्हारी भावना-प्रवृत्ति सर्व मंगल रूप हो।

दुविधा के बीज बोयें ना

सुविधा भोगी मानसिकता दुविधा के बीज बोती है। जो अभी गुलछरें उड़ाने में लगे हुए हैं वे अपने लिए कठिनाइयाँ पैदा कर रहे हैं। सुविधा भोगी व्यक्ति एन्द्रिक सुख साता के मनोभावों से स्वयं को लिप्त रखता है। यानी वह उसमें रचा पचा रहता है। शरीर को श्रम नहीं करना पड़े, ऐसी उसकी मनःस्थिति बन जाती है। इससे वह एशो आराम की जिंदगी जीने का आदी बनता जाता है। वह भूल जाता है कि वह एशो आराम के लिए जिन संसाधनों का उपयोग कर रहा है, उनमें कितनी-कितनी जीव हिंसा हो रही है। स्वयं के सुख साधन के लिए की जाने वाली अनर्थकारी हिंसा, उसे कैसे सुकून दे सकती है। भगवान आरिष्टनेमि ने उनके निमित्त से होने वाली जीव हिंसा के विषय में फरमाया था कि यह मेरे परलोक, भविष्य के लिए हितकर नहीं होगी।

गृहस्थ को गृहस्थी के कार्यों में हिंसादि करना पड़ता है किन्तु धर्म के क्षेत्र में जीवों पर रहम होना चाहिये। जहाँ जीवों पर रहम होना चाहिये, जहाँ मैत्री भाव की प्रधानता होनी चाहिये वहाँ भी जब सुख-सुविधा भोगी मनःस्थिति नजर आती है तो लगता है पानी में ही आग लग रही है। जो संवर के स्थान हैं वे ही आस्रव के स्थान बनते जा रहे हैं। लाइट-पंखा, ए.सी. आदि पता नहीं कौन-कौन से साधन उपयोग में लिये जा रहे हैं। ऊपर पंखा चल रहा है, नीचे मुंह पत्ती बांधकर पूंजनी हाथ में रखकर सामायिक की जा रही है। क्या यह हास्यास्पद स्थिति नहीं है। इससे भी आगे जब संत-महंथ भी इन हिंसाकारी संसाधनों का बेहिचक उपयोग करते दृष्टिगत होते हैं तब तो वाणी मूक हो जाती है। हाथ-पांव सुन्न हो जाते हैं। कहाँ गई वह प्रतिज्ञा जिसमें वह कहता है - से सुहुम वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नैव सयं पाणे अइवाएजा.... क्या यह प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। क्या मोबाइल-लेपटॉप आदि साधन, साधुओं के उपकरण हैं? क्या इनके बिना साधु जीवन जीया नहीं जा सकता? पर ये सारे प्रश्न मन में ही उमड़-घुमड़ कर रह जाते हैं। श्रावक बेचारा दो पाटों में पिसता जा रहा है। वह क्या करे क्या न करे, उसे सूझ ही नहीं रहा है। मौज उड़ाने वाले मौज उड़ाने में मस्त हैं। उन्हें फिक्र ही नहीं है। वे फिक्र करें भी क्यों

सदाचार है नींव धर्म की

धर्म का मूल विनय है। विनय का अर्थ है- सदाचार। नैतिकता-सदाचार के बिना धर्म की खेती नहीं हो सकती। विनय के संदर्भ में टीकाकारों, भाष्यकारों का कहना है कि विनय यानी वह आचार जिससे जीव के आठ कर्मों की ग्रंथि का छेदन-अपनय हो। यदि कर्मों का छेदन न हो, कर्मों का नाश न हो तो वह आचार धर्म रूप कैसे हो सकता है। सामायिक-पौषधादि कोई भी धर्मानुष्ठान हो, उसकी नींव नैतिकता से भरी हुई होनी चाहिये। श्रावक व्रतों पर दृष्टि पात करेंगे तो, पहला-दूसरा-तीसरा और चौथा व्रत नैतिकता की ओर इशारा कर रहा है। किसी पर आक्रमक रूख नहीं रखना। यदि कोई आक्रमण करे, पीड़ा पहुँचाए तो प्रतिकार किया जा सकता है। किसी की रोजी-रोटी नहीं छीनना। झूठा लेख-दस्तावेज नहीं बनाना, झूठी गवाही नहीं देना, चोर की चुराई वस्तु नहीं लेना, चोर को सहायता नहीं देना, पर स्त्री की तरफ बुरी नजर नहीं डालना। अविवाहित के साथ काम क्रीड़ा नहीं करना आदि जो संकेत हैं, इनका नैतिकता के साथ गहरा सम्बन्ध है। श्रावक के ये व्रत उसके अध्यात्म की नींव रूप हैं। इन्हें भी विनय-सदाचार कहने में कोई एतराज नहीं हो सकता। श्रावकों का सदाचार एवं साधुओं का सदाचार भिन्न-भिन्न रूप है। श्रावकों को अपने सदाचार का पालन करना चाहिये, साधुओं को उनके लिए निर्देशित सदाचार का पालन करना चाहिए। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र के प्रथमाध्ययन की प्रथम गाथा में कहा गया है कि 'विणयं पाउकरि साभि' मुनि के विनय-सदाचार का कथन करूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा पूर्वक मुनि के सदाचार का सांगोपांग विवेचन किया है। गागर में सागर को भरने जैसा कार्य है। उस चर्या की यदि मुनि भली भांति परिपालना कर ले तो उसके मुनित्व की छटा अलग ही नजर आने लगेगी। उसका जीवन धर्ममय बन गया होगा। जैसे मिश्री में माधुर्य होता है वैसे ही विनयी संयत का जीवन क्षमा मृदुता से पूरिपूर्ण हो जाता है। उसका जीवन माधुर्य से भरा-भरा लगेगा। ऐसे मुनि जग में सर्वसुखी हो

सर्व मान्य बातों से तोलें

अपनी तुला पर जब दूसरों का तौलने का प्रसंग बनता है तब मन प्रायः अशान्त बन जाता है। व्यक्ति यह नहीं सोचता कि वह दूसरों की तुला पर कितना खरा उतर रहा है। दूसरों की तराजू पर जब उसे तौला जायेगा तो वह पास मार्क भी ला पायेगा या नहीं? संभव है वह न ला सके। इसलिए दूसरों को अपनी तुला पर तौलने के साथ ही स्वयं को दूसरों की तुला पर तौलने का प्रयत्न करना चाहिये। मजे की बात यह है कि व्यक्ति अपनी जिस तुला पर दूसरों को तौलता है उसका पासंग मिलाता ही नहीं है परिणाम स्वरूप कोई भी उसकी तुला पर खरा उतर ही नहीं पाता। एक बात और है कि वह जिन बातों से तौलता है वे बात भी सर्व मान्य नहीं हैं। वे उसके अपने बनाये हुए हैं। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि कोई खरा उतरे भी तो कैसे उतरे। यदि सर्वमान्य-राजमान्य बातों से तौला जाय तो सच्चाई सामने आ सकती है। उसके बिना सच्चाई सामने आए भी कैसे? अर्थात् आ नहीं पाती। व्यक्ति मन ही मन दूसरे को कोसता रहता है। उसे दोषी मानता रहता है। दूसरों के दोष देखने की गर्मी से उसके भीतर उबाल आता रहता है। इससे दूसरे का कुछ बिगड़े या न बिगड़े उसके स्वयं का बिगाड़ तो होता ही है। वर्तमान में वह अशान्त बना हुआ है। भविष्य के लिए अशुभ कर्मों का उपार्जन कर रहा होता है। एक दुःख की परम्परा को ही खड़ी कर देता है। क्योंकि ऐसा एकाध बार नहीं होता, मन के स्तर पर यह खेल प्रायः चलता रहता है। मन तनाव ग्रस्त भी होता रहता है। कभी-कभी जब उसके भीतर आत्म-समीक्षण प्रकट होता है, तब शुभ अध्यवसायों के कारण कुछ क्षणों के लिए वह परम्परा ठहर जाती है। अग्रगामी नहीं बन पाती। उस समय वह सोचता है रे जीव! क्यों तुम दूसरों को देखता है, इससे तुझे मिला क्या? मात्र तनाव ही न। तुम्हें क्या लेना देना, कौन कैसा है, क्या कर रहा है? तू अपनी सोच तू कैसा है, तू क्या कर रहा है। इस प्रकार की सोच से वह कुछ समय के लिए तनाव मुक्त हो पाता है, पर यह स्थिति लम्बे समय तक रह नहीं

पवित्रता में परमात्मा

हृदय में कई प्रकार के भाव बनते रहते हैं। उन भावों से गंध भी उठती रहती है। सामान्य इनसान उस की पहचान कर नहीं पाता। विरले व्यक्ति उसकी थाह पा सकते हैं। सिद्धान्त में इन भावों को लेश्या कहा जाता है। जिसके छह प्रकार मुख्य रूप से बनते हैं। आवान्तर भेद असंख्यात हो जाते हैं। उससे उठने वाली गन्ध से व्यक्ति प्रभावित अवश्य होता है। उससे स्वयं को क्रूर भी बना सकता है और भद्र भी बना सकता है। प्रसन्न चन्द्र राजर्षि का आख्यान प्रायः सर्व विदित है। मंथरा-कैकयी के विचारों में आए परिवर्तन से कैसा दृश्य बन गया? इसे कौन नहीं जानता। उससे राजकुल प्रभावित हुआ ही था। ऐसे एक नहीं, दो नहीं, लगभग प्राणियों की दशा है, वह चाहे मनुष्य हो या तिर्यच। ये अध्यवसाय सबमें बनते रहते हैं। पवित्र अध्यवसायों में भीनी-भीनी सुगंध होती है। इससे विपरीत जो अध्यवसाय क्रूर होते हैं उनसे भयंकर दुर्गन्ध फूटती है। कभी कभी तो यह गन्ध भयंकर असह्य हो जाती है। यद्यपि उस गन्ध को तो व्यक्ति सहसा नहीं पहचान पाता है पर उसे उससे बेचैनी होने लगती है।

हृदय में उभरने वाले भावों पर क्या व्यक्ति अधिकार पा सकता है? अपने भावों पर अधिकार पाना असंभव नहीं है पर कठिन अवश्य है। क्योंकि उसमें व्यक्ति को सजग रहना होता है। सजगता-सावधानी हटते ही दुर्घटना घट सकती है। घट जाती है। कभी कभी कुछ घट जाना अलग बात है पर सावधान रहते हए यदि कभी कभार कुछ घट भी जाता है तो वह जल्द ही केन्द्रित हो जाता है।

**विचारों को स्थिर रखना कठिन हो सकता है,
पर स्वयं को स्थिर रखा जा सकता है।**

स्थविर का शरीर अस्थिर हो सकता है, पर मन स्थिर रहता है। स्थिरता से भावों को पवित्र रखा जा सकता है। पवित्रता से अपने अपने हृदय पर अपना अधिकार बनाया जा सकता है। कहा जाता है कि पवित्र हृदय में परमात्मा वास करते हैं।

**पवित्रता परमात्मा के समीप ले जाने वाली होती है।
इसलिए हृदय में भाव कैसे भी उभरें उसे पवित्र बनाये रखो।**

समय व्यर्थ गंवाना क्यों ?

एक हजार का नोट सात सौ-आठ सौ में लोग निकाल रहे हैं, क्योंकि पुराने नोटों का चलन मोदी सरकार ने निरस्त कर दिया। दिसम्बर के बाद तो उसकी वेल्यु एक रुपया भी नहीं रह जायेगी। इकतीस दिसम्बर तक का समय है, उतने समय में जितना उसके बदले में पैसा मिल जाय उतना तो बचा, ऐसा सोच लोग 20-30% कमीशन दे दे कर भी राशि बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उसी संदर्भ को ध्यान में रखते हुए विचार होता कि क्या हम अपने जीवन के विषय में भी ऐसा सोच पाते हैं। जो समय हाथ से निकल गया, वह तो गया। वह लौटकर आने वाला नहीं है। जो बचा है उसका सदुपयोग कर पा रहे हैं या यह समय भी हाथ से निकालते हुए चले जा रहे हैं सोचो मनुष्य जीवन कितना मूल्यवान है। क्या भरोसा है कि हम जल्दी ही वापस मनुष्य जीवन व जैन धर्म को प्राप्त कर लेंगे ? यदि नहीं तो अभी जो समय अपने पास है, उसका उपयोग क्यों न कर लिया जाए। उपयोग लेने का अर्थ एक मात्र दीक्षा ही नहीं है। साधु बन जाना ही नहीं है। साधु बन सकें तो सबसे उत्तम है ही। पर यदि साधु जीवन स्वीकार न कर सकें तो सदाचार का जीवन तो जी ही सकते हैं। परिवार-समाजादि के लिए लगने वाले समय के अतिरिक्त जो समय बचे उसे तो आत्माराधना में, ज्ञान की साधना में लगा लें। इधर-उधर की बातों में समय नहीं गंवाना यह कम महत्व की बात नहीं है। पैसों की लालसा छोड़ो, आज कई लोग जिनकी तिजोरियाँ नोटों से भरी हैं, वह पैसा क्या काम आयेगा ? इसी प्रकार आगे भी कभी ऐसी ही घड़ी आ गई तो पैसा पास पड़ा हुआ भी क्या काम आ पायेगा ? पैसे की हाय-हाय में जीवन के महत्वपूर्ण क्षण बर्बाद मत करो। संवर-सामायिक की साधना-सदाचार का पालन करना, ये ऐसे महत्वपूर्ण हैं कि जीवन को सुकून दे पायेंगे। जीवन में हल्के पन का अहसास होगा। जीवन जीने का आनन्द आ पायेगा। बचा सको तो बचा लो डूबती नौका को। बचा सको तो बचा लो कषायाम्नि में स्वाहा होते हुए जीवन को। बचा सको तो बचा लो जीवन की बहुत बड़ी निधि रूप धर्म को। यदि बचा सको तो बचा लो स्वयं को मोह रूपी भंवर से। जो

सहज प्रवाहित भाव प्रशंसा

कुछ लोग यह कहते हुए मिलते हैं कि हमारे से झूठी प्रशंसा नहीं होती। वे दूसरों की प्रशंसा करने में कंजूस भी होते हैं, पर उनको अपनी प्रशंसा बड़ी प्रिय होती है। यदि अन्य कोई उनकी प्रशंसा न करे तो वे स्वयं ही विषय ऐसा चलाना चाहेंगे जिसमें वे स्वयं की प्रशंसा कर सकें। अपनी विशेषताएं अन्यो को बता सकें। उनके द्वारा अपनी विशेषताएं बताने का उद्देश्य होता है कि उन विशेषताओं को सुन कर लोग अनुकूल प्रतिक्रिया दें।

प्रशंसा किनकी करना इस विषय को भी समझ लेना चाहिये। झूठी प्रशंसा चापलूसी कहलाती है। चापलूसी गरजू आदमी करता है। प्रशंसा गुणी जनों के गुणों की करनी चाहिये। गुणियों की प्रशंसा करने से प्रशंसा करने वाला स्वयं को गुणमय बना सकता है। गलत व्यक्ति की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। उससे उसकी गलतियाँ बढ़ सकती हैं। दूसरे उस पर विश्वास करके उसके फंदे में फंस सकते हैं। यदि गलत व्यक्ति के विषय में कभी कुछ कहना पड़े तो उसके किसी मुख्य विशेषता को उभारते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि कई बातें विचारणीय हो सकती हैं पर अमुक विशेषता अवश्य मननीय है। किसी व्यक्ति में कई गलत आदतें हो सकती हैं पर कुछ न कुछ अच्छाई भी होती ही है। अतः उस अच्छाई को प्रकट करने में हर्ज नहीं है। किसी की प्रशंसा करते हुए मन में यह विचार नहीं होना चाहिये कि प्रशंसा करने से ये मेरे पर खुश हो जायेंगे। ऐसी भावना से की जाने वाली प्रशंसा में व्यक्ति का स्वार्थ रहता है। स्वार्थ वश या भय वशात् की जाने वाली प्रशंसा आत्म-भाव से नहीं होती। प्रशंसित के गुणों से प्रभावित हो, जो प्रशंसा की जायेगी, वह आत्म भाव से होगी। उसमें कृत्रिमता नहीं होगी। उसमें बनावटी पन नहीं होगा। वह प्रशंसा यथार्थ होती है। अन्तर से होती है। कहने का आशय जिसके गुणात्मक जीवन से अन्तर भीग जाय उस समय उसमें से जो भाव प्रवाह बने, वह प्रशंसा सच्ची है। वैसी प्रशंसा करनी नहीं पड़ती, हो जाती है। होती है। प्रशंसा वह कर पाता है जो गुण प्रेमी होता है। जिसकी दृष्टि गुणों पर बनी रहती है। दोष देखने वाला दोषों को ही ढूँढता रह जायेगा। वह अपने हृदय को प्रासादित नहीं बना पाता।

सत्य में जीएं-शान्ति से जीएं

मन अशक्त हो, मन की शक्ति मन्द हो जाय उसी का नाम अशान्ति है। शान्ति-शक्ति। मन समर्थ होता है, शक्तिशाली होता है, वहाँ अशान्ति हो नहीं पाती। मन कमजोर होता है आकांक्षा, अभिलाषा, इच्छा, अपेक्षाओं से। यदि मन में कोई कांक्षा नहीं हो तो कोई अशान्ति नहीं। मन जितना कांक्षित होगा अशान्ति उतनी ही बढ़ती जायेगी। जहाँ चाह नहीं होती- यानी जिस मन में चाह नहीं होती वह शहंशाह होता है। शाहों का भी शाह होता है। चाह वाला शाह बन सकता है। बादशाह बन सकता है पर शाहों का शाह तो वही बन सकता है जिसके अन्तर से चाह जा चुकी होती है। ऐसा मन सशक्त होता है। उसमें अशान्ति घर कर ही नहीं सकती। यह बात भगवान महावीर ने अपने केवला लोक से जानी। उन्होंने जाना कि लालसा मन का कीड़ा है। यह जिसमें लग जाता है उसे घायल-शिथिल कर देता है। उससे बचाव करना जरूरी है। फसल में कीड़ा नहीं लगे किसान इसकी सावधानी रखता है। वैसे ही हर प्राणी को सावधान रहना चाहिये कि उसके मन में कीड़ा न लगे। उस सावधानी का नाम है संयम। जो संयम रख सकता है, जो ललाम-उदीप्त आकांक्षाओं पर अंकुश रख सकता है, ब्रेक लगा सकता है, उसका मन कमजोर, अशक्त नहीं हो सकता। उसका मन झूठी शान में नहीं जीयेगा। वह यथार्थ में जीयेगा। यथार्थ में जीने वाले की मनः शक्ति क्षीण हो ही नहीं सकती। सत्य में जीने वाला शान्त रहता है। हरिश्चन्द्र राजा का नाम सत्यवादी में सबसे पहले लिया जाता है। क्यों ? वे झूठी शान में नहीं जीए। श्मशान की पहरेदारी भी करनी पड़ी तो वे उसमें भी उसी भाव से रहे। ऐसा व्यक्ति क्या कभी अशान्त हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं। हजार-हजार के नोटों से जिन्होंने तिजोरियां भर रखी थी उनका मन कमजोर हो सकता है, पर जिनके पास दो-चार नोट ही होंगे हजार के उनको अशान्ति से क्या लेना देना। सत्य में जीएं, शान्ति में जीएं। सशक्त बनें-शान्त बनें। मन को पदार्थों से हटायें, परमात्म में लगे। मन सुदृढ़ होगा। शान्त

स्वयं को खोना नहीं

सब्जी में नमक-मिर्च-मसाला आदि डालने से उसमें स्वाद बढ़ जाता है। ऐसा व्यक्ति समझता है, पर हकीकत यह कि उस सब्जी-पदार्थ का मूल स्वभाव बाधित हुआ है। शुभ हो या अशुभ, मूल स्वभाव में फर्क आता ही है। इसी प्रकार मन में शुभता का, अशुभता का संचार मन की शान्ति को विकृत करता है। मान-सम्मान की चाह हो या अन्य किसी प्रकार की चाह उससे मन व्यथित होता है। व्यक्ति समझे या न समझे, उसकी समझ में आए या न आए पर यह निश्चित है कि उसके चित्त पर उसकी चोट पड़ती है। उसके संस्कारों से मन मूल स्वभाव से विकृत होता है। चेहरे पर पाऊंडर-क्रीम लगायें या कालिख पोतें, दोनों से चेहरे का मूल स्वरूप तो बदल ही जाता है। क्रीम व पाऊंडर का असर भी चेहरे पर होता है। कालिख का भी होता है। असर को अनुकूल-प्रतिकूल की संज्ञा व्यक्ति अपनी सुविधा से दे देता है। व्यवहार में क्रीम-पाऊंडर को स्वीकार किया जाता है, कालिख को नहीं अथवा जिसके मुंह पर कालिख पुत गई उसे अच्छा नहीं समझा जाता। पुण्य-पाप के लिए भी व्यवहारिक जगत में ऐसी ही धारणाएं हैं। पुण्य स्वीकार्य होता है। पाप परिहार्य किन्तु नैश्चयिक दृष्टि से विचार करें तो मोक्ष से पूर्व पुण्य का भी त्याग करना ही पड़ता है। पाप का त्याग तो करना ही होता है पर पुण्य भी साथ नहीं जाता। पुण्य को छोड़ना ही होता है। उसके रहते मोक्ष हो नहीं पायेगी। इस दृष्टि से पुण्य-शुभता-पाप-अशुभता दोनों ही परित्याज्य है। यह ठीक है कि छोड़ने की प्रक्रिया पहले-पीछे हो, पर छोड़ना दोनों को ही पड़ेगा। दोनों आत्मा के मूल स्वभाव नहीं हैं। विकार हैं। विभाव हैं। भले ही मिश्री से दूध का स्वाद बढ़ जाता होगा पर दूध का मूल स्वाद तो बाधित होता ही है। साधक को एक स्थिति तक पुण्य सहायक होता है। स्वाद देता है पर उस स्वाद को भी वह महत्व नहीं देता। उधारी के आभूषणों से शरीर कितना भी सुसज्जित किया जाय, मन जानता है कि ये मेरे नहीं हैं। भरत चक्रवर्ती ने भी जाना। यह जानना ही महत्वपूर्ण है। यह ज्ञान अन्तर में बना रहता है, वह उनमें स्वयं को खोता नहीं है। जो इस ज्ञान को भुला

अमृत पाथेय

कोई तुम्हारे मन के विपरीत कुछ कहे, उस समय स्वयं को शान्त बनाये रखना बहुत कठिन होता है, पर असंभव नहीं है। उस समय स्वयं को शान्त बनाये रखना अध्यात्म की दृष्टि से उसकी परीक्षा के क्षण हैं। कौन व्यक्ति कितना आत्म भावों में रमने वाला है, किसने कितनी आत्मशक्ति को जगाया है, यह उस समय ही ज्ञात हो पाता है, जब सब तुम्हारे अनुकूल चल रहा हो, उस समय तुम शान्त हो, तुम आध्यात्मिक हो, ऐसा मूल्यांकन सही नहीं होगा। स्वर्ण की परीक्षा आग में तपाने पर अथवा कष-व छेद से ही हो पाती है, वैसे ही व्यक्ति कितना आत्म-शक्ति सम्पन्न बना है उसकी परीक्षा विकट व विपरीत स्थितियों में ही हो पाती है। भूकम्प के समय जो मकान हिले नहीं, वह मजबूत है। जो भूकम्प के समय भर भरा कर ढह जाय, उसमें मटेरियल कितना भी अच्छा लगाया गया हो, उससे क्या मतलब। वस्तुतः भूकम्प के झटके को जो सह सके मजबूती उसी की है। कोई भूकम्प के झटके की तरह तुम्हारे साथ पेश आए उस समय तुम्हारा एक रोम भी प्रकम्पित न हो तो समझो, तुम अध्यात्म जीवी बन गये हो। तुमने स्वयं को अध्यात्म से सुदृढ़ बना लिया है। कौन रत्न है कौन काँच का टुकड़ा है, यह क्रय-विक्रय के समय ही ज्ञात हो पाता है। कोई काँच के टुकड़े को ही बेशकीमती रत्न मान कर संजोता रहे, सहेजता रहे, यह व्यक्ति की अपनी सोच हो सकती है। उसकी सोच के अनुसार बाजार में उसे उतना मूल्य मिल ही जायेगा, यह जरूरी नहीं है। क्या यह माना जा सकता है? कथमपि नहीं। वैसे ही व्यक्ति कितना आत्म-शक्ति सम्पन्न है, यह भी जीवन व्यवहार से ही जाना जा सकता है। व्यवहार के क्षण में यदि व्यक्ति स्वयं को शान्त नहीं रख पाए तो वह स्वयं को चाहे कितना भी शक्ति सम्पन्न माने, उसके मानने से वह शक्ति सम्पन्न नहीं हो जाता। मुनि क्षमासागरजी की गलती नहीं होने के बावजूद जब उन्हें आचार्य श्री उदयसागर जी म.सा. से उपालभ्य मिलने लगा तब वे शान्त ही नहीं बने रहे, अपितु गुरु वचनों को अमृत पाथेय मान लीकें करे।

आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (1)

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए जिन वचन पर अनुरक्ति होना जरूरी है। जिन वचन में रत रहना आध्यात्मिक रसायन है। उससे सकषायात्मा भी निरंहकारी बन जाती है। सकारात्मक सोच का जन्म भी उससे संभव है। सत्य समन्वित दृष्टि हो जाने से मानसिक दृढ़ता सहज रूप से बन जाती है। मानसिक दृढ़ता सकारात्मक सोच की परिचायक है। कषाय-लेस, कषायों की मंदता आत्मिक उत्क्रान्ति के लिए अत्यन्त जरूरी है। जिन वचन में रत रहने से सोच-समझ बदलती है। समझ सही बनने से प्रायोगिक रूप भी सही बन पाता है। जिन वचन में रत रहने की प्रक्रिया जिन वचन श्रवण से प्रारम्भ होती है। सुनेगा तब जानेगा कि जिन वचन क्या है? रोहिण्य चोर ने जबरन चार बातें सुन ली, उससे उसका जीवन ही बदल गया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जो जिन वचन में रत रहे वे मानसिक स्थिति से सुदृढ़ बन गये। अर्हन्नक श्रावक, कामदेव श्रावक, सुलसा श्राविका आदि अनेक ऐसे जाज्वल्यमान सितारे हैं जो जन-जन को दिशा देने में समर्थ हैं। जम्बू कुमार भी सुनने के बाद ही सत्य-तथ्य को जान पाये। जाना तो ऐसा जाना कि उसी में रत हो गये। देवांगना जैसी रूपसी कुमारियाँ जिनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध जुड़ा वे भी उनको उनके ध्येय से विचलित नहीं कर सकीं। जिन वचनों पर आनुवांशिक जो श्रद्धा होती है वह कभी कभी सुदृढ़ भी होती है तो कभी कभी व्यक्ति उसके माहात्म्य से अनभिज्ञ ही बना रह जाता है। जो माहात्म्य से अविज्ञ रहता है, उसकी आस्था कई बार चलित भी हो जाती है। वह स्वयं को उसमें रत रख नहीं पाता।

लोग सुखी जीवन जीने के टिप्स जानने हेतु हजारों रुपये फीस देते हैं। जिन वचनों में सुखी जीवन जीने के जो टिप्स हैं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। यदि कहीं हैं भी तो वे जिनशासन से ही उद्धरित हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ आदि पर जय पाने के सूत्र यदि प्रयोग में लिए जाएं तो जीवन में आमूलचूल परिवर्तन आ सकता है। जो जिन वचनों को प्रयोग में लेता है उसकी रुचि-श्रद्धा-आस्था उसमें बढ़ती

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति सूत्र (2)

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए कषायों का शमन होना जरूरी है। कषाय और शान्ति-सामर्थ्य दोनों एक साथ रह नहीं सकते। कषायों का उद्भव अपेक्षा से, आकर्षण से होता है। अहंकार पर चोट पड़ने पर भी कषाय उत्पन्न हो जाती है। जैसे सांप की पूंछ पर पांव पड़े तो वह फुफकार उठता है, वैसे ही अहंकार पर चोट पड़ते ही क्रोध प्रेरित हो जाता है। अहंकार चोट कर सकता है, करता है पर वह स्वयं चोट सह नहीं पाता। उसको अपने टूटने का भय सताता रहता है। वह नहीं चाहता कि उसका अस्तित्व खतरे में पड़े। वह स्वयं को बचाता है। इसलिए क्रोध को वह अपना सुरक्षा गार्ड बनाये रखता है। उससे मित्रता बनाये रखता है ताकि वह उसकी सुरक्षा कर सके।

क्रोध को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला ऊफान आया और शान्त हो गया। दूसरा उसी में भन्नाते रहना। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में दोनों ही घातक हैं। दोनों आध्यात्मिकता का ग्राफ गिराने वाले हैं। फिर भी कह सकते हैं जो दूसरे प्रकार का क्रोध है, वह बड़ा खतरनाक है। वह आत्मा को भीतर ही भीतर सुलगाना रहता है। आत्मा की शक्ति का क्षरण करता रहता है। आत्मा को अशान्त बनाये रखता है। ऐसा क्रोध न शरीर को पनपने देता है न आत्मागुणों को ही। जैसे पानी से मिट्टी का बहाव होने पर भूमि का क्षरण होता रहता है, वैसे ही उक्त क्रोध से आत्मगुणों का क्षरण होता रहता है। भूमि के क्षरण को रोकने के लिए लोग पेड़ लगाते हैं। पेड़ों की जड़ें उस भूमि को, मिट्टी को अपने में सांध लेती हैं। परिणाम स्वरूप पानी के बहाव में वह मिट्टी बह नहीं पाती। उसका बहाव रुक जाता है। इसी प्रकार जिन वचनों का आश्रय ले सदाचार के पेड़ यदि जीवन में बोये जायेंगे तो आध्यात्मिक क्षरण रुक पायेगा। कषायों का असर हो नहीं पायेगा और आत्म-भाव, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति कर सकेंगे। अतः आत्मिक उत्क्रान्ति के लिए जरूरी है कि व्यक्ति क्रोध में भन्नाये नहीं। क्रोध में सुलगता न रहे। क्रोध यदि पिण्ड न छोड़े तो उससे होने वाले उपाय जानकर आत्म-भावों को पुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये।

आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (3)

आत्म भावों की उत्क्रान्ति के लिए सूत्र-अर्थ में पारंगत होना जरूरी है। सूत्र-अर्थ में पारंगत होने का तात्पर्य है- सूत्रों का शुद्ध उच्चारण करना सीखा जाय। शुद्ध उच्चारण से हृदय तंत्री झंकृत होती है। सूत्रों की ध्वनि हमारे शरीर में रहे ग्लेण्डस पर असर डालने वाली होती है। वह उच्चारण की शुद्धि से ही संभव है। ध्वनि यदि सही नहीं हुई तो उसका वैसा असर होना संभव नहीं है। संभव है इसी कारण से अच्चक्खंर पयहीणं, घोसहीणं आदि दोष बताये गये हैं। इन दोषों के कारण सूत्रों की ध्वनि पूर्णरूपेण प्रभावी नहीं हो पायेगी।

अर्थ के ज्ञान का तात्पर्य है जो शब्द-पद उच्चारण किया जाता है, प्रयोग किया जाता है उसका अर्थ क्या है, यह ज्ञात होना चाहिये। अन्यथा भाषा का जो सम्यग्रूप निखरना चाहिये वह नहीं निखर पायेगा। अर्थ का ज्ञान होने से उस शब्द उच्चारण के साथ अन्तर में भावों का निर्माण होगा। अन्यथा शब्द को ले जाते रहेंगे, समझ में कुछ आ ही नहीं पायेगा। ईख-गन्ने का डंडा चाटते रहने से उसका स्वाद आ नहीं पाता, वैसे ही भाषा-शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं होगा तो उसका जो स्वाद आना चाहिये वह नहीं आ पायेगा।

सूत्रार्थ के साथ-साथ तत्व-ज्ञान में पारंगत होना चाहिये। जब क्रोध आदि से होने वाले अपाय को जाना जायेगा तभी उससे बचने का उपाय ढूंढा जा सकता है अन्यथा रोग का ही पता नहीं, निदान नहीं तो उसकी चिकित्सा क्या हो पायेगी। दवा खाते रहने का अर्थ चिकित्सा नहीं है। दवा, मानसिक तृप्ति हो सकती है। रोगी को सांत्वना रहती है कि वह दवा ले रहा है। पर वह दवा रोग की चिकित्सा ही है, ऐसा एकान्ततः नहीं कहा जा सकता। रोग का इलाज तब हो पाता है, जब रोग का निदान हो जाय, यह ज्ञात हो जाय कि यह रोग है। इसी प्रकार आध्यात्मिक दोष-रोग क्रोधादि हैं उनका ज्ञान जरूरी है। सूत्रार्थ के ज्ञान से व्यक्ति का गाम्भीर्य गुण विकसित होता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए कषाय को छोड़ना होगा। गुरु का भी कर्तव्य है कि ज्ञान जिज्ञासु की पहले पात्रता देखे। यदि पात्रता न हो तो उसे पात्र बनाने का

आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (4)

आध्यात्मिकता को सुदृढ़ बनाने के लिए चौथा बिन्दु है आत्मार्थी । आत्मार्थी का ही दूसरा अर्थ मोक्षार्थी कह सकते हैं । आत्मार्थी का अर्थ है वह जो भी करे आत्मा के प्रयोजन से करे । यानी जिससे आत्मगुण विकसित हो वैसी ही प्रवृत्ति करे । वह ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करे कि जिससे आत्मगुणों का ह्रास हो । इसके लिए कोई भी क्रिया करने के पहले उसे स्व-संवेदन के धरातल पर तौल लेना चाहिये । मैं जैसा कर रहा हूँ, ऐसा ही यदि कोई मेरे साथ करे तो उसका मेरे पर असर कैसा होगा ? इस प्रकार के विवेक पूर्वक उसकी प्रवृत्ति होगी । वह ज्ञेय-उपादेय का ज्ञाता बन जायेगा । वह अपने हर कार्य को आत्म तुला पर तौलेगा कि यह मेरे हित में है या नहीं । इससे मेरा आत्मार्थी भाव पुष्ट होने वाला है या स्वार्थ भाव पुष्ट होगा । वह स्वार्थ का पोषण करना नहीं चाहेगा । वह कभी भी अपने निमित्त दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता । पीड़ा पहुँचाना तो दूर की बात वह वैसी बात सोच भी नहीं सकता । साधु हो या श्रावक, कोई भी आत्मार्थी बन सकता है । उस स्थिति में वह भाषा दोष का भी परिहार करेगा । वह उसी भाषा का प्रयोग करना चाहेगा जो दूसरों के दिल को ठेस न पहुँचाये । सत्य बात भी कभी-कभी अकथ्य हुआ करती है । किस समय क्या बोला जाना, कितना बोला जाना । नहीं बोलने से काम चल सकता है या नहीं ? इस प्रकार की समीक्षा पूर्वक ही भाषा का प्रयोग करना चाहेगा । वह पहले स्वयं को प्रयोगशाला बनाता है । पहले स्वयं पर उनके होने वाले प्रभावों को जानने का प्रयत्न करेगा । एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति की तरह वह दूसरों पर प्रयोग करके उनके जीवन को खतरे में नहीं डालना चाहेगा । जैसे भाषा का विवेक करता है वैसे ही अपनी अन्यान्य क्रियाओं के प्रति भी सजग रहता है । इस प्रकार से चलते हुए वह अपने अध्यात्म को ऊँचाइयों देने में समर्थ हो पाता है । वह अपनी शक्ति संवर्धन करता हुआ उसका उपयोग आत्म भावों की उत्क्रान्ति के लिए करेगा । अर्थात् सदुपयोग करेगा, दुरुपयोग नहीं ।

आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (5)

आत्म-समाधि के लिए आचरण शुद्धि भी एक बिन्दु है । आचरण का हेतु अर्हता प्राप्ति का होना चाहिये । अर्हता-पात्रता, मुक्ति गमन, सिद्ध बनने की पात्रता जिससे प्राप्त हो वही आचरण वस्तुतः आचार है । उससे विपरीत आचरण को अनाचीर्ण ही मानना चाहिये । अर्हता प्राप्ति हेतु किया गया आचरण समाधि प्रापक होता है । वह आचरण संवृत भाव से संभव है । हिंसादि रास्तों को खुला रख कर कोई चाहे कि वह आत्म-समाधि पा ले तो यह आकाश कुसुम के समान है । ओजोन परत से जैसे दुनिया सुरक्षित है, वैसे व्रत-नियम रूपी छतरी से स्वयं को संवृत करना, बनाना जरूरी है । जब व्यक्ति अपना आचरण सुधार लेता है तो उस पर सहसा आंच नहीं आती । संभवतः श्री रतनलालजी म.सा. के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वे गणेशाचार्य को फरमाया करते थे कि मुझे अन्य मुनियों पर गुस्सा आ जाता है पर मुनि नानालालजी पर गुस्सा आ ही नहीं पाता है । वेत्रवती नदी, जिस नदी के किनारे बँत के झाड़ हैं, वह उनको उखाड़ने में समर्थ नहीं हो पाती है । जब उसमें वेग आता है, तो उस समय बँत झुक जाती है । इसी प्रकार जो आत्मानुगत आचरण में रत रहता है उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं हो पाता । वह स्वयं को सुरक्षित कर लेता है । आत्मानुगत आचरण का अर्थ है, जिससे आत्मगुण विकसित होते हैं । जैसे किसी भी जीव को प्रताड़ित नहीं करना । उसे सताना नहीं । किसी को पीड़ा पहुँचाने का भाव अपने में पैदा नहीं होने देना । सभी जीवों को साता पहुँचाने का लक्ष्य रखे । मन से भी किसी का बुरा चिन्ते नहीं । सभी प्राणियों को आत्मवत समझे । उनमें भी मेरे जैसा ही आत्म-द्रव्य रहा हुआ है, ऐसा अनुभव करे । शुद्ध आत्म-द्रव्य पर अपनी दृष्टि टिकाये रखे । जो भी क्रिया-प्रवृत्ति करे उसे लोक दिखावे की दृष्टि से नहीं करे । लोगों को खुश रखने की नीयत से कोई भी गलत कार्य न करे । सदा स्वयं में स्वयं की उपस्थिति का अनुभव करे । खाना-पीना, उठना बैठना आदि जो भी क्रियाएं हों वे यतना से हों । उनका लक्ष्य अर्हता

आध्यात्मिक-उत्क्रान्ति सूत्र (6)

आत्मोत्कर्ष—गुणोत्कर्ष के लिए व्यक्ति को जितेन्द्रिय होना जरूरी है। संसार में दो प्रकार के प्राणी होते हैं— इन्द्रिय—अभिमुख एवं इन्द्रिय विमुख। इन्द्रिय अभिमुख व्यक्ति का सम्बन्ध इन्द्रियों से होता रहता है। उसके लिए इन्द्रिय—विषय ही महत्वपूर्ण होते हैं। वह उन्हीं में निमग्न रहता है। जब देखो इन्द्रिय—विषयों के रसों में लीन मिलेगा। उसका मन उन्हीं में रमा रहता है। उसकी वाणी में उन्हीं विषयों की झंकार झंकर होती मिलेगी। उसकी काया उन्हीं के सुखोपभोग में मस्त मिलेगी। ऐसे प्राणी आत्मा—परमात्मा की बात भी करना नहीं चाहेंगे। वे कहते हुए मिलेंगे जो अवसर मिला है सुखोपभोग के लिए, उस अवसर को कोरी कल्पनाओं में खो देना कोई समझदारी नहीं होगी। वर्तमान सुखों को भविष्य के काल्पनिक सुख के भरोसे नहीं छोड़ देना चाहिये। कुल मिला कर उनके लिए इन्द्रिय—विषय ही प्रधान है। वे उन्हीं में रचे—पचे रहने को सुखानुभूति मानते हैं। वस्तुतः जब तक आत्म स्पर्श—अनुभव जन्य सुखानुभव न हो जाय तब तक व्यक्ति अनुकूल वेदन को ही तो सुख मानेगा।

इन्द्रिय—विमुख का तात्पर्य है— जिनका ध्येय इन्द्रिय—विषय नहीं है, जो शरीर पोषण को ही महत्वपूर्ण नहीं मानते। वे मानते हैं कि शरीर सम्पदा जिससे प्राप्त है उस स्रोत को जाना जाय। वे उस स्रोत की शोध में स्वयं को नियोजित कर देते हैं। शोधार्थी के लिए खाना—पीना, ऐशो—आराम सब गौण होता है, वह केवल—शोध में स्वयं को लगाये रखते हैं। वे उसमें सफल होने के इच्छुक होते हैं। उनके लिए प्राप्त सुखों का महत्त्व नहीं है। अपनी खोज से प्राप्त सफलता ही उनके लिए जीवन धन है। अतः वे उसी में स्वयं को लगा देते हैं। वस्तुतः ऐसा ध्येय उन्हीं का बन सकता है जो सत्य को जानने को तत्पर होंगे। इसलिए वे सत्याभिमुख होते हैं। सत्यान्वेषण ही उनका लक्ष्य बन जाता है। ऐसे व्यक्तियों को आत्म—रामी कहा जाता है। यद्यपि वे अभी आत्मा के पूर्ण स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर पाये हैं, पर उनकी दिशा वह बन गई होती है। वे उसी दिशा पर बढ़ रहे होते हैं। इसलिए वे इन्द्रिय विमुख हो जाते हैं। ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष ही आत्म—समाधि— आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं।

बिन्दु से सिन्धु की खोज

एक नाटक देखा गया। नाटक के पात्रों ने बहुत अच्छी तरह से अपने दायित्व—पार्ट का निर्वाह किया। उस नाटक को देखने के बाद किसी जिज्ञासु की भावना बनी कि इतने सुन्दर नाटक की कल्पना करने वाला कौन है। नाटक लिखने वाला कौन है? वह जिज्ञासा के अनुरूप उस नाटक के लेखक को ढूँढता है। कुछ कठिनाइयाँ भी आईं पर उसने मूल लेखक को खोज लिया। खोज करने वाले को उससे कितना हर्ष हो सकता है, यह अनुमान लगाया जाना कठिन नहीं है। इस रूपक से हम क्या समझे? नाटक की तरह व्यक्ति का जीवन है, जो आए दिन नये—नये अन्दाज से प्रस्तुत होना रहता है। शरीर की रचना, उसके क्रिया कलापादि को देखते हुए किसी—किसी के मन में यह भाव पैदा होता है कि यह सारी रचना रचने वाला कौन है? इस सोच के सहारे वह शोध करने लगता है, खोज करने लगता है कि इस शरीर को रचने वाला कौन और चलाने वाला कौन? कुछ लोग इसे ईश्वर की रचना मान चुप हो जाते हैं। उनका मानना होता है कि ईश्वर की रचना में हम कुछ भी हस्तक्षेप करें, यह ईश्वर के अधिकार में खलल होगी। अतः वे वहीं विराम ले लेते हैं। पर कुछ सोचते हैं ईश्वर ऐसा क्यों करेगा? वह क्या ऐसे कामों के लिए फुर्सत में है। क्या वह सर्वज्ञ—वीतरागी नहीं है? यदि है तो वीतरागी ऐसा कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। ऐसे कुछ लोग जब तीर्थकरों की परम्परा के आचार्य मुनियों के सम्पर्क में आते हैं तो उनकी खोज मोड़ ले लेती है। वे मानने लगते हैं कि यह सामर्थ्य, कर्मों से बँधी आत्मा का ही है। परदे पर दिखने वाला पिक्चर—चल चित्र हकीकत में पर्दे पर अंकित नहीं है। वह प्रोजेक्टर से आ रही किरणों से बन रहा होता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति से ही यह सारी रचना है। उसके रहते रचना चलती रहती है। उसके हटते ही शरीर अक्षम—ठप पड़ जाता है। इस प्रकार की खोज के साथ जो आत्मा का अनुभव करता है, वह वस्तुतः सत्यार्थी होता है। वह इन्द्रियों की तरफ से विमुख हो सत्य की दिशा में स्वयं को नियोजित कर लेता है। इससे कह सकते हैं मेहनत करने वाले की मेहनत निरर्थक नहीं होगी।

मियं, मियं, मियं

एक शख्स ने किसी संत के सामने अपनी परेशानी का रोना रोया। संत ने कहा मियं, मियं, मियं। वह समझ नहीं पाया। उसने जानना भी चाहा तब भी संत ने स्पष्ट नहीं किया। कहा तुम स्वयं सोचना। वह सोचता रहा, पर समझ में कुछ आ ही नहीं पा रहा था। समय भोजन का हो गया। वह भोजन करने बैठ भी गया पर दिमाग मियं-मियं पर ही चल रहा था। उसे लगा मेरा पेट उतना भर गया है, जितने से काम चल जाए। अब जो खाना खाया जायेगा वह खाने की जरूरत के लिए नहीं अपितु स्वाद के लिए होगा। इतने में उसे लगा मियं का अर्थ है परिमित-सीमित यानी परिमित खाओ। जितने से काम चल जाए उतना ही खाओ। उसके बाद चाहे कितनी मनोझ वस्तु क्यों न आ जाय, स्वाद के लिए नहीं खाना। वस्तुतः अधिक खाना परेशानी को बुलाना है। अधिक खाना स्वयं परेशानी को मोल लेना है। ठलक बोलों में भी कहा जाता है खाओ पीयो छोको मत। इतना मत खाओ कि श्वास लेना भी भारी पड़ जाय। आयुर्वेद की दृष्टि से मौसम के आधार पर खाने की मात्रा व वस्तुओं को निर्धारित करना चाहिये। खाने का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं है, उसका सम्बन्ध मन से भी गहरा है। कहा जाता है- जैसा खाए अन्न वैसा रहे मन। भोजन-भोज्य पदार्थ जैसे होते हैं, उसके अनुसार मन बनता है। मन बनने का तात्पर्य उसके अनुसार मन में विचार पैदा होते हैं। सात्विक भोजन से विचारों में शान्तता बनी रहती है। भोज्य पदार्थ यदि अशुद्ध हो तो विचारों पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। बहुत कम साधक-व्यक्ति होंगे जो उससे प्रभावित नहीं होते। जिनका मन, जिनकी इन्द्रियां अपने अधीन होती हैं, वे सहसा उस प्रकार के आहार से भी स्वयं को प्रभावित नहीं होने देते। जैसे खाने के लिए मियं समझ में आया वैसे ही एक बार जब वह कहीं बोलने लगा तो 'मियं' ने उसे घेर लिया। उसने जान लिया कि परिमित ही बोलना चाहिये। अधिक बोलना बकवास माना जाता है। रात में सोया। आराम की नींद आयी पर छह घंटे बाद नींद खुल गई। उसने तीसरे मियं के अर्थ को समझ लिया की परिमित सोओ। ज्यादा शयन आदमी को प्रमादी

अनुत्तर धर्म- अनुत्तर स्थान

अनुत्तर धर्म की आराधना अनुत्तर स्थान प्राप्त करवाती है। अनुत्तर धर्म के अर्थ को समझ लेना जरूरी है। जो धर्म आत्मा को कर्मों से मुक्त करा सके, वही धर्म अनुत्तर हो सकता है। दुनिया में धर्म के नाम पर अनेक पंथ-मत हैं। सब अपना अपना दावा करते हैं। पर यथार्थ में जो धर्म शम-संवेग-निर्वेद दिलाने वाला हो, जिसकी पालना करने से जीव उपशम भाव में रमण कर सकता हो, संक्लेशों से जो कोसों दूर हो पाता हो, आत्म स्वस्थता का अनुभव कर सके, मानसिक सारी ऊहा-पोह की स्थितियाँ शमित हो जाय, आत्मा, आत्म-भाव में स्थित हो सके वही धर्म अनुत्तर हो सकता है। स्वर्ण कई प्रकार का होता है पर शुद्ध स्वर्ण ही स्वर्ण का पूरा मूल्य पाता है। पीले रंग की धातु होने मात्र से वह धातु स्वर्ण का मोल नहीं पा सकती। स्वर्ण की कीमत उसके रंग से नहीं अपितु उसके गुणों से है। प्रायः पंथ-मत, अहिंसा-सत्य-अपरिग्रह आदि की बातें करता है किन्तु उनकी परिभाषाएं उनकी अपनी है। यदि यथार्थ में कोई भी पंथ-मत अहिंसा की पूर्णता दिलाता हो तो वह निश्चित रूप से अनुत्तर धर्म होगा।

जैन धर्म की मूल रीति अहिंसा-सत्य है। क्षमादि उत्तम धर्मों की वह चर्चा करता है। वह भोग को नहीं योग व अयोग को महत्व देता है। वह राग-द्वेष से उपरत होने की शिक्षा देता है। आत्मानुशासन का पाठ पढ़ाता है। सत्वेषु मैत्री की उदात्त भावना जिसके भीतर समायी हुई है, आत्मवत्-सर्व भूतेसु की मंगल मनीषा के लिए जो वसुधैव कुटुम्बकम् को जीवन व्यवहार में उतारता है, ऐसा धर्म ही मंगल-उत्कृष्ट व अनुत्तर हो सकता है। भोग और योग दोनों जहाँ साथ-साथ चलते हैं, वहाँ अनुत्तर धर्म की स्पर्शना कठिन है। स्वर्ण का आभूषण होते ही उसका मूल्य घट जाता है। वैसे ही भोग आत्मा की खोट है। उसके साथ योग कुछ अंशों में साधक को लाभ देता होगा पर अनुत्तर स्थान देने में वह समर्थ नहीं होता। सारे आभूषण मूल्यवान हो सकते हैं किन्तु रखड़ी का मोल, शिरोमणि का मोल की बराबरी वे नहीं कर सकते। हम अनुत्तर धर्म व अनुत्तर स्थान की पहचान करें एवं अनुत्तर धर्म की आराधना करते हुए

धर्मोद्यान में विचरें

धर्म—आराम है। धर्म विश्रान्ति स्थान है। धर्म उद्यान—बगीचा है। जहाँ अध्यात्म की आक्सीजन प्राप्त होती है, जिससे अन्तर क्लुषता दूर होती है। जिसकी आरधना से चित्त प्रसन्न होता है। जीवनी शक्ति का अनुभव होता है। जो आनन्द देता ही नहीं है आनन्द में रमण कराता है। पर यह होता तब है, जब व्यक्ति सिद्धि मार्ग को जान लेता है। सिद्धि मार्ग की पहचान भी तब होती है जब जीवन अपना ज्ञाता बन जाता है। स्वयं को जानने लगता है। जब अपनी पहचान होती है तो उसे लगता है— अनुभव होता है— यह जीवन अध्रुव है। सदा विद्यमान रहने वाला नहीं है। यह जीवन ही नहीं जो भी वस्तुएं हैं। जितने भी पदार्थ हैं कोई भी तो ध्रुव नहीं है। ध्रुव है तो एक मात्र—आत्मा। जो न कभी नष्ट होती है, न कभी बनी है। कर्मों के संयोग से जन्म—मरण होते रहते हैं। पर जन्म भी शरीर का होता है और मरण भी उसी का होता है। जो जन्मता है, बनता है, वही मरता है, बिगडता है। यह ज्ञान, धर्म को पैदा करता है। इससे जीवन में निर्वेद की धारा बहने लगती है। इससे संवेग का प्रवाह उत्कर्ष को पाता है। धर्म केवल क्रिया का नाम नहीं है। धर्म केवल अनुष्ठान रूप नहीं है। धर्म का संबंध आत्मा से है। अनुष्ठान धर्म तक ले जाने में मददगार हो सकते हैं। धर्म—अनुष्ठान यदि अन्तर को बदलने में समर्थ न हो सके तो उन्हें औपचारिक धर्म कहा जा सकता है। धर्म—आत्मा का गुण है। आत्म—भाव में स्थिति देने वाला ही सच्चा धर्म हो सकता है। कषायों से आत्मा बाहरी दुनिया में चली जाती है। वह अपनी स्थिति को भूल जाती है। अपनी सत्ता का उसे ज्ञान नहीं रह पाता। धर्म उसे उसकी सत्ता का ज्ञान कराता है। वह जो कषायों से बाहरी दुनिया में भटक जाती है, उसे आत्मा में स्थित करती है। धर्म कठिन क्षणों को सहने की शक्ति देता है। राजा हरिश्चन्द्र, मर्यादा पुरुषोत्तम रामादि में जो सामर्थ्य पैदा हुआ वह धर्म का ही प्रसाद था। रोहिण्य चोर—प्रभव आदि को बाहरी दुनिया से आत्म—स्थिति देने वाला भी धर्म ही था। धर्म के बल पर ही सीता ने अग्नि स्नान किया था। धर्म के ही बल पर अंजना ने वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। धर्म का संक्षिप्त परिचय है— जो आत्मा की पहचान से जन्म लेता है और आत्म को आत्मा में स्थित कर आत्म—भावों में उसे बनाये रखता है।

प्रतिरोधात्मक क्षमता

खून में रक्त कण एवं श्वेत कण यदि पर्याप्त मात्रा में हो तो उस शरीर में रोग आ नहीं सकता। शरीर सुदृढ़ बना रहता है। किले के रक्षक सशक्त होते हैं तो किले में रहने वालों को चिन्ता नहीं सताती। रक्षकों से किला सुरक्षित रहता है। खून में रहे रक्त एवं श्वेत कण शरीर रूपी किले के सशक्त रक्षक हैं। वे जब तक हैं किले का कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। शत्रु सेना की तरह रोग के कीटाणु भले ही कितना ही हमला बोलें, वे शरीर रूपी किले को क्षत—विक्षत नहीं कर सकते। रोग, शरीर पर तब हावी होते हैं जब ये रक्षक कमजोर पड़ जाते हैं अर्थात् उनकी मात्रा शरीर में कम हो जाती है। उक्त कणों से जैसे शरीर सुरक्षित—सशक्त बना रहता है, वैसे ही मन की सुरक्षा के लिए भी कुदरत—प्रकृति ने व्यवस्था दी है।

मन को सशक्त बनाये रखने में ईमानदारी—सत्य निष्ठा का बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये खून के रक्त कण एवं श्वेत कणों की तरह मन के सुदृढ़ सेनानी हैं। इनके रहते मन कभी कमजोर नहीं पड़ता। विकट से विकट परिस्थितियों में भी मन फौलादी बना रहता है। भयंकर कठिनाइयों में भी मन उद्विग्न नहीं होता। मन पीछे की तरफ भागने की राह नहीं देखता। वह सजग—सावधान बना रहता है। कष्ट—कठिनाइयाँ जितनी आती हैं आ जाय वह शिथिल नहीं होता। राम—कृष्ण—महावीर के पास यही तो सेना थी, जिससे वे कहीं भी घबराए नहीं। दुर्योधन के पास सेना पाण्डवों की अपेक्षा ज्यादा थी पर सत्य—निष्ठा रूप श्री कृष्ण उनके साथ थे। रावण के पास सेना कम नहीं थी पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम की तरह उसके पास सत्य निष्ठा का अभाव था। अतः स्वयं को सशक्त बनाये रखने के लिए जरूरी है कि सत्य—शील—नैतिकता को बनाये रखें। तन—मन की तरह आत्मा की शक्ति संयम है। संयमी आत्मा की शक्ति गजब की होती है। गजसुकमाल मुनि के शिर पर अंगारे रखे जा रहे हैं, रख दिये गये पर अविचल से खड़े हैं। आत्मा में संयम की मात्रा पर्याप्त हो तो उसका बाल भी बांका नहीं हो सकता। उसका कोई कुछ भी बिगाड़ करने में समर्थ नहीं हो सकता। संयम आत्मा की प्रतिरोधात्मक शक्ति है। तन—मन—आत्मा

सृष्टि, भगवान महावीर की दृष्टि

भगवान महावीर की दृष्टि हम क्या पहचानें। पहचानने के लिए भी तो वैसी दृष्टि होनी चाहिये। रत्न पारखी के बिना रत्न किसी के हाथ में चला भी जाये तो वह कैसे मूल्य पा सकेगा ? यद्यपि रत्न का मूल्य तो है ही, वह कमतर नहीं हो जाता फिर भी जौहरी के बिना बाजार में उसे वह मोल नहीं मिल पाता। भगवान महावीर की दृष्टि को भी समझने के लिए गहरी आँख की जरूरत है। भगवान महावीर ने जीव संयम की बात तो कही ही, अजीव काय संयम का भी उन्होंने उपदेश दिया। अजीव पदार्थों का भी दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। अजीव पदार्थों का भी महत्व है। पर्यावरण को सुव्यवस्थित रखने में उनका भरपूर सहयोग है। उनके दुरुपयोग से जीव का जीवन भी खतरे में पड़ जाता है। जीवों के जीवन के लिए अजीव पदार्थ आधार है। इसलिए भगवान का उपदेश हमें प्रकृति के निकट ले जाता है। जब व्यक्ति प्रकृति—कुदरत प्रिय बन जाता है तो वह उसका विनाश कैसे कर पायेगा। छोटी से छोटी चीज भी जरूरत के क्षणों में महत्वपूर्ण बन जाती है एक छोटी सी गोली—टेबलेट हार्ट अटैक की परेशानियों को रोक देती है। एक छोटी सी तूली रगड़ खा आग में बदल सकती है। इस लिए किसी अजीव—पुद्गल की भी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। व्यर्थ में बनस्पति की हिंसा, पानी का अपव्यय असंयम में आते हैं। इनका रक्षण करना, दुरुपयोग—अपव्यय नहीं करना, इनका संयम है। वनस्पति, पानी भी जन जीवन के लिए अत्यावश्यक चीजें हैं। इनके प्रति जो लापरवाह बनता है, वह जन जीवन का हितकर कैसे बन सकता है ? मानव सेवादि की चर्चाएं इस युग में खूब उठ रही हैं पर जो मानव जीवन के लिए जरूरी अंग है उनको बेहिचक नष्ट करने में पीछे नहीं रहते, ऐसे व्यक्ति मानव सेवा के लिए क्या सचमुच में तत्पर हैं ? सृष्टि की सुव्यवस्था के लिए भगवान महावीर के दर्शन को ध्यान में लेना चाहिये। उनके दर्शन को ध्यान में ले यदि तदनुरूप प्रयत्न किया जायेगा तो यथार्थ में आत्म—कल्याण के पथ पर अग्रसर होता हुआ व्यक्ति परोपकार के क्षेत्र को भी आलोकित कर सकता है। आत्म—संयम, जीव निकाय संयम व अजीव काय संयम के अभाव में जो होगा, उसे आत्म प्रवंचना ही कहा जा सकता है। उससे बचना चाहिये।

एक धक्का और दो

सफलता के द्वार पर आ व्यक्ति यदि द्वार को खोले नहीं, धक्का लगाये नहीं तो वह सफलता को कैसे पा सकेगा। बहुधा देखा जाता है कि व्यक्ति द्वार बन्द देखकर लौट जाता है। वह आता है अन्दर प्रविष्ट होने के लिए, पर द्वार को बंद देखकर बिना प्रयत्न किये, बिना उसे धक्का लगाये लौट जाता है। उसका इस प्रकार लौट जाने का नाम ही असफलता है। असफलता का 'अ' सफलता का द्वार है, उसे जो धक्का लगा देता है वह सफलता में प्रविष्ट हो जाता है। अनादिकालीन मिथ्या दृष्टि जीव ग्रंथी देश तक आता है। अनेक बार आ जाता है। अभवी जीव भी वहाँ तक आ जाता है पर ग्रंथी भेदन नहीं कर पाता। ग्रंथी देश तक आ वापस मुड़ जाता है। लौट जाता है। कुछ जीव ऐसे होते हैं जो उस ग्रंथी को धक्का लगा ही देते हैं। धक्का लगते ही चमत्कार होता है, ग्रंथी टूट जाती है। वे जीव उल्लसित हो जाते हैं। उनका वीर्योल्लास दृढ़ हो जाता है। वे खुशी में झूमते हुए आगे बढ़ जाते हैं। वे सफल हो जाते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में इस प्रक्रिया को सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया कहा गया है। इससे फलित होता है कि व्यक्ति को प्रयात्न जारी रखना चाहिये। किसी भी क्षेत्र में निराश नहीं होना चाहिये। अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष बनने के लिए अब्राहम लिंकन को प्रथम बार में ही सफलता नहीं मिल गई थी। कई प्रारम्भिक चुनावों में भी सफल न हो पाए पर अपना प्रयत्न जारी रखा। अपनी धुन में लगे रहे। आखिरकार वे राष्ट्राध्यक्ष पद पर विजयी घोषित हुए। हाथी को युद्धों के समय किले के संगीन द्वार को तोड़ने के लिए प्रेरित किया जाता था। वह एक बार में द्वार—दरवाजा नहीं तोड़ पाता तब भी वह पीछे नहीं हटता था। बार—बार के प्रयत्न से वह सफल हो जाता था। अतः व्यक्ति को अपने उद्देश्य में, मिशन में लगे रहना चाहिये। असफलता ही वह रास्ता है जिससे व्यक्ति सफल होते हैं। अब तक जो सफल हुए हैं, वे भी ऐसे ही सफल हुए हैं व आगे भी सफल होते ही होंगे। असफलता ही सफलता का मार्ग है। व्यक्ति यदि पूरे मन से अपने मिशन में लगे

विश्वास है तो विश्व है

विश्वास है तो विश्व है। विश्वास के बदलते ही सारी दुनिया बदल जाती है। सारे रिश्ते—नाते बदल जाते हैं। लोग वे ही होते हैं पर बेगाने लगने लगते हैं। चीजें वे ही होती हैं पर स्वाद बदल जाता है। दूसरे नहीं बदले पर व्यक्ति का नजरिया ही बदल गया होता है। उस बदले हुए नजरिये से सारी चीजें बदली—बदली सी दिखने लगती हैं। चश्मा बदलते ही सारी चीजें रंगीन दिखने लगीं। वस्तुतः वे चीजें उस रंग की हैं नहीं। उनका रंग भिन्न है पर चश्में के ग्लास का जो रंग है, चीजें उसी रंग की दिखने लगती हैं। चश्मा लगाने वाला यह कहे कि सारी चीजें बदल गईं, तो उसका कहना संगत नहीं है क्योंकि चीजें नहीं बदली हैं, बदला है उसका चश्मा। वह यदि उस चश्में को उतार कर — हटाकर देखेगा तो सारी चीजें उसे पूर्ववत् नजर आने लगेंगी। वह चश्में को बदले नहीं और चाहे की चीजें पूर्ववत् दिखने लगे तो क्या यह संभव है ? नहीं। उसे यदि चीजों को पूर्ववत् देखना है तो वह तब संभव होगा जब वह अपना चश्मा हटाकर उन्हें देखे। अथवा वह यह समझने लगे कि यह बदलाव चीजों में नहीं आया है। मेरे देखने में आया है। जैसे चीजों के विषय में है, वैसे ही व्यक्तियों के विषय में भी होता है। विश्वास बदलते ही सारे लोग बदले — बदले लगने लगते हैं। विश्वास है तो विश्व अपना है। विश्वास है तो सब हमें अपने लगते हैं। व्यवहार में विश्वास ही बड़ी बात मानी जाती है। प्रायः लोग यह जानते हैं कि जीवन व्यवहार में विश्वास का होना जरूरी है। विश्वास के बिना व्यवहार चलना कठिन है पर इसके बावजूद व्यक्ति विश्वास को विषाक्त बना लेता है। विश्वास के साथ—साथ अविश्वास भी करता रहता है। जिससे उसका व्यवहारिक जीवन कुछ असंतुलित सा हो जाता है। होता रहता है। वह न तो पूर्णतया अविश्वास ही कर पाता है और न पूर्ण रूपेण विश्वास ही रख पाता है। इससे उसका जीवन झंझात्मक बना रहता है। वह दुविधा में जीता रहता है। होना यह चाहिये कि जब व्यवहार में जी रहे हैं तो सही रूप से जीने के लिए व्यवहार्यों के प्रति विश्वास भी बनाए रखा जाय।

धर्म की पहचान

धर्म की शुरुआत होती है अपनी पहचान से। उसके अभाव से धर्म क्रियाएं, अनुष्ठान कितने भी किये जाएं, वे सार्थक नहीं होंगे। उनसे पुण्योपार्जन तो हो सकता है पर धर्म होना संभव नहीं है। एक का अंक हो, उसके आगे जितने शून्य लगेंगे प्रत्येक शून्य दश गुणित होता जायेगा पर पीछे से एक का अंक हटा दिया जाय तो सारे शून्य निरर्थक सिद्ध होंगे। शून्यों की संख्या तो दिखेगी पर उनका मूल्य कुछ भी नहीं होगा। इसी तरह अपनी पहचान—जीवादि तत्वों के ज्ञान बिना की क्रियाएं मूल्यवान सिद्ध नहीं होंगी। अपनी पहचान यदि पूर्णतया कभी न भी हो पर अपनी पहचान वालों के वचनों पर श्रद्धान् भी करता है तो उस श्रद्धा के बल पर कुछ आगे बढ़ सकता है। लेकिन इतना अवश्य है कि अपनी पहचान पूर्वक जो अनुष्ठान—आराधना होगी, वह अद्भुत होगी। ऊपर से मानी हुए आस्थाएं ऊपर—ऊपर रह जाती हैं। वे गहरे में उतर नहीं पाती। नदी में उतरने वाले का शरीर पानी से भीगता है, उसका जितना शरीर पानी में भीगा उसके आधार पर निश्चय किया जाता है कि यह व्यक्ति इतने गहरे पानी में उतरा है। इसी प्रकार धर्म में कौन कितना गहरा उतर पाया है, उसकी पहचान उसके व्यवहार से हो पाती है। निन्दा—प्रशंसा का उस पर कितना असर होता है, वह एक कसौटी है। यदि उस पर उसका कोई असर होता ही नहीं तो वह धर्म में गहरा डूबा हुआ कहा जा सकता है। किसी को अल्सर की बीमारी हो, उसे मिर्च—खटाई खाने को मना किया जाता है, डाक्टर की तरफ से। वह इन चीजों को नहीं खाए, दवा भी खाता रहे, उस समय बीमारी शान्त रहती है पर कभी मिर्च—खटाई खाने में आ भी जाय तब भी जलन न हो तो समझा जाता है कि दवा असर कर रही है। यदि मिर्चों के फाँके भी लगा ले फिर भी उसका अल्सर पर कोई प्रभाव ना हो तो समझा जायेगा कि बीमारी ठीक हो गई है। इसी प्रकार अपने अपमान—तिरस्कार का व्यक्ति पर यदि असर खत्म हो जाय तो समझ लेना चाहिये इस पर धर्म का प्रभाव हुआ है। यदि पग—पग पर उसके भीतर आत्म—तिरस्कार की चुभन होती रहे तो समझा जा

जीवन जीएं खुशहाली से

खुशहाल जीवन जीने के लिए जरूरी है कि कठिनाइयों में कुम्हलाना नहीं। हर्ष मन को फुलाना नहीं। काँटों को कष्ट-कठिनाई नहीं मानना। उन्हें अपना सुरक्षा कवच समझना। जो काँटों में खिल सकता है, उसे दुःखी कौन बना सकता है। शायद इसीलिए कहा जाता है फूलों से तुम हंसना सीखो भौरों से नित गाना। फूल खिला रहता है। भौरों अपनी मस्ती में गुनगुनाते रहते हैं। वे गुंजार करते रहते हैं। ऐसे ही जो हर परिस्थिति में अपने मस्ती में बने रहते हैं, वे खुशहाल जीवन जी पाते हैं। उनकी खुशहाली कोई छीन नहीं सकता। व्यक्ति अपनी खुशहाली को स्वयं ही खो देता है। कई बार वह हीन भावना में बहने लगता है तो कई लोग स्वयं को गौरवान्वित करने में लग कर खुशहाली खो देते हैं।

कठिनाई के समय स्वयं को कैसे सुदृढ़ रखें ? यह एक प्रश्न पैदा होता है। कठिनाई के समय मन दुविधा ग्रस्त हो जाया करता है। मन सोचता कुछ है होता कुछ है। इससे उलझन बढ़ती जाती है। इससे कैसे बचा जाय। इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि व्यक्ति को प्रकृति-कुदरत पर विश्वास करना चाहिये। वह कठिनाई को हल्का भी कर सकता है। उसे सोचना चाहिये जो भी कठिनाई आई है, उसका आना तय था। उसको टालने की चेष्टा बेकार है। इसको झेलने की मनःस्थिति बना लो। मुझे इस कठिनाई को झेलना ही है। वह जब मानसिक रूप से तैयार हो जाता है तो जो कठिनाई बड़ी भारी लगती थी, वह हल्की फुल्की लगने लगती है। ऐसे समय में सोचना चाहिये कि जीना इसी में है तो फिर रो-रो कर क्यों जीएं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिसे हम ज्यादा महत्व देने लगते हैं, वह महत्व पा जाता है। जिसे सामान्य मान लिया जाता है, वह सामान्य हो जाता है। कोई भी घटना-रोगादि कठिन नहीं होते। हमारी मनःस्थिति ही उन्हें कठिन बना देती है। मनःस्थिति को तैयार करने में सिद्धान्त का ज्ञान सहायक होता है। मनःस्थिति फिर भी विचलित हो तो विचार करो कि राम से ज्यादा कठिनाई आई है क्या ? सीता से ज्यादा कठिनाई है? अंजना, मीरा, दमयंती, सुभद्रा आदि से ज्यादा कठिनाई तो नहीं है ? उनके समक्ष हमारी कठिनाई तो अत्यंत सामान्य है। ऐसा विचार करने से मनःस्थिति उस कठिनाई को झेलने के लिए

भक्ति से हृदय भीगा जाय

मटकी में पानी भरा हो तो उसकी ठीकरी आर्द्र हो जाती है। ठण्डी भी रहती है। जिनवाणी के रसिक को जिनवाणी श्रवण का अवसर मिलते ही उसका दिल हरा हो जाता है। उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। वह अपशम रस से स्वयं में शीतलता का अनुभव भी करता है। उसके अन्तर से उपशम रस टपकने लगता है। उसका हृदय उत्फुल्ल हो जाता है। ऐसा एक दृश्य अहमदाबाद में देखने को मिला था। आचार्य पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म.सा. का नगर सेठ के बण्डे स्थित स्थानक में पधारना हुआ। श्रीरामसिंह जी चौधरी का चेहरा देखते ही बनता था। हर्ष विभोर हो प्रभावना वितरण में लगे हुए थे। इस प्रकार के दृश्य कम ही दृष्टिगत हो पाते हैं। यद्यपि हर्ष विभोर तो कई लोग होते हैं। रोम-रोम पुलकित भी कइयों के होते हैं पर उनकी स्थिति कुछ अलग ही लगी थी।

यथार्थ में जिन भक्ति-गुरु भक्ति में हृदय सराबोर हो जाना चाहिये। उसमें इतना लीन हो जाय कि स्वत्व-परत्व का भेद ही न रहे। 'जो सो प्रभु-प्रभु सो तू हूँ भेद कल्पना मेटो,' जैसी स्थिति बन जाय। अपने में ही परमात्मा का अनुभव होने लगे। अन्तर-हिया भक्ति से भीग जाय। एक अंश भी बिन भीगा न रहे। यह असंभव नहीं है। यह कोरी काल्पनिक उड़ान नहीं है, अपितु संभव है। इसके लिए जरूरी है कि मन संत भक्ति में लगा रहे। सदा उनके गुणों पर दृष्टि रहे। उनका मंगलकारी कल्याणकारी स्वरूप आँखों में तैरते रहना चाहिये। उन के गुणों पर अटूट श्रद्धा भाव हो। गहरी श्रद्धा से ही अंतर भीग पाता है। उसी से एकात्म-भाव सधता है। दृष्टि गुणात्मक बन जाती है। अपने में लघुता के भाव बनते हैं। लघुता के भाव व हीन भाव एक नहीं है। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। लघुता आत्मोत्कर्ष की ओर बढ़ाती है। हीन भावना से आत्मापकर्ष होने लगता है। लघुता से जीव प्रभुता पाता है। हीन भाव से प्रभुता नहीं मिल सकती। लघुता की भावना जीवन को उर्वर बना देती है। हीन भाव उर्वर भूमि को भी बंजर बना देता है। कहने का तात्पर्य संत भक्ति-जिन भक्ति में हृदय को तन्मय बनाने की दिशा में अपना लक्ष्य कर्म बना रहना चाहिये

अगला कदम मोक्ष

लोग भगवान को याद करते हैं, पर भगवान को पहचानेंगे कैसे ? भगवान की पहचान के लिए इनसान की पहचान होना जरूरी है। आज अधिकांश व्यक्तियों को इनसान कम नजर आते हैं, शैतान नजर ज्यादा आते हैं। ऐसा इसलिए हो रहा है कि देखने वालों की दृष्टि में शैतानियत रही हुई है। शैतानियत को देखे जानी वाली दृष्टि से इनसान को नहीं देखा जा सकता। जब इनसान भी उसकी नजर में नहीं आ सकता तो भगवान उसकी निगाह में आयेगा ही कैसे ? भगवान को देखना है तो नजर इनसान को देख सके ऐसी बनानी पड़ेगी। मोतिया जब आँख में आता है तो दिखने वाली चीजें सही नहीं दिखा करतीं। पर जब मोतिया निकाल दिया जाता है, ऑपरेशन कर दिया जाता है तब सही दिखने लगता है। ऐसी ही दृष्टि इनसानियत देखने वाली बनाई जा सकती है। इसके लिए पहला प्रश्न है कि व्यक्ति यह बताए कि वह स्वयं को शैतान समझता है या इनसान ? यदि वह स्वयं को इनसान समझता है तो उसकी नजर में दूसरे शैतान कैसे हो सकेंगे ? एक ऐसी मान्यता मानव समाज मान कर चलता है कि जो जैसा है, उसे दूसरा भी वैसा ही नजर आता है। भगवान महावीर का कथन है –

‘सर्वभूय प्पभूयस्स, सम्मं भूयाइँ पासओ’

अपनी आत्मा के समान सभी प्राणियों को देखो। तदनुसार व्यक्ति यदि स्वयं को इनसान के रूप में देखता है तो दूसरों को भी इनसान के रूप में देखे। वह दूसरों को भगवान के रूप में देखेगा तो उसे उसमें रही हुई भगवत्ता दिखने लगेगी।

भगवत्ता दिखने का एक और फार्मूला है जैसा कि श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है – ‘सोही उच्चुय भूयस्स’ ऋजुभूत की शुद्धि होती है। लोग कहते हैं अभी तो पांचवा आरा है। इसमें मोक्ष तो मिलनी नहीं है, ऐसी स्थिति में धर्म-कर्म करने से क्या मतलब ? अभी मोक्ष इसलिए नहीं मिलती है कि व्यक्ति स्वयं को वैसा बना नहीं पा रहा है। व्यक्ति यदि स्वयं को वैसा बना ले तो मोक्ष उससे दूर नहीं रह सकता। करता व्यक्ति स्वयं नहीं और कहता है पांचवाँ आरा है। अपने जीवन में जो भी भेल संभेल चल रहा है उसे दूर करने का प्रयत्न करो। स्वयं की शोधि करो। ऋजुभूत बनो अगला कदम ही मोक्ष होगा।

धर्माभ्यास निरन्तर हो

धर्म की आराधना से घबराओ मत। यह मत पूछो कि धर्म करने से क्या लाभ। तुम स्वयं प्रयोग करो। अनुभव होगा कि धर्म कितना लाभकारी है। धर्म कठिनाई को सहने की क्षमता देता है। धर्म व्यक्ति को दृढ़ बनाता है। धर्म से व्यक्ति धैर्यवान बनता है। उसकी अधीरता समाप्त प्रायः हो जायेगी। बहुत स्पष्ट शब्दों में कहें तो धर्म समग्र ज्वलन्त समस्याओं का समाधान है। धर्म से जीवन का बैलेंस-समभाव बराबर बना रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में एक रूप बने रहने की शक्ति धर्म देता है। बच्चा प्रारम्भिक तौर पर स्कूल जाना नहीं चाहता, उसे जबरन भेजा जाता है। पैसे-टॉफी आदि का लोभ देकर उसे स्कूल भेजा जाता है। पर जब दोस्तों के साथ अभ्यास करने लगता है तो वह स्कूल का एक दिन-एक पीरियड-कालांश भी छोड़ना नहीं चाहता। जैसे वह स्कूल का कोई भी पीरियड-कालांश छोड़ना नहीं चाहता, वैसे ही धर्म का अनुभव हो जाए तो वह उससे विलग रह नहीं सकता। स्कूल में रोज-रोज उसी कोर्स का अभ्यास किये जाने से वह उस-उस विषय में पारंगत होता है, वैसे ही धर्म का अभ्यास भी उसी भाव से करेगा तो वह सफल हो जायेगा। स्कूल में पढ़ा हुआ, पढ़ाई के लिए की गई मेहनत पेपर-परीक्षा के समय काम आती है, वैसे ही धर्म का अभ्यास भी विकट स्थिति में मददगार बनता है। स्कूल की पढ़ाई के बजाय विद्यार्थी उपन्यास आदि खूब पढ़ता रहे, उससे वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार धर्म के नाम पर कोई दूसरा ही अभ्यास करता रहे तो वह अभ्यास उसे कठिनाई के क्षणों में अविचल रख सके यह कठिन है। सामायिक-पौषधादि धार्मिक अनुष्ठानों में धर्म का ही अभ्यास होना चाहिये। विकट परिस्थिति में कैसे समभाव में रह सकें इसका ही अभ्यास होना चाहिये। इस अभ्यास के लिए स्वयं को निरन्तर उस प्रकार की भावना से भावित करते रहना जरूरी है। सैनिक को युद्ध-अवसर जीवन में कभी एकाध बार ही आता होगा, नहीं आता होगा पर उसे अभ्यास सतत करते रहना होता है। कहा भी जाता है – ‘अनमभ्यासे निषं विद्या’ अभ्यास के अभाव में विद्या हाथ

संवेदन हीनता का खतरा

अर्थ प्रधान युग में अधिकांश लोगों की दृष्टि अर्थ प्रधान बन गई है, बन रही है। अर्थ प्रधान के साथ ही साथ यतना में बहुत बड़ी कमी भी आ रही है। धर्म के नाम पर नमोकार मंत्र गिन लेना, अधिक भावना बनी तो माला गिन लेना। संवत्सरी आदि प्रसंगों पर हो गया तो प्रतिक्रमण में सम्मिलित हो जाना। इतना करना वे अपने आप में पर्याप्त मानते हैं। जीवाजीव का ज्ञान तो कुछेक श्रावकों को ही होगा। जीवाजीव-ज्ञानाभाव में यतना-जीव विराधना से होने वाला संवेदन होगा ही कैसे? जो लोग मछली आदि जीवों का वध निशंक हो करते हैं, उस वध से उनको ऐसा कोई संवेदन नहीं होता कि वे प्राणी वध कर रहे हैं। वे उस क्रिया को सामान्य रूप से लेते हैं। इसी प्रकार वर्तमान में श्रावक-कुलोत्पन्न अनेक व्यक्तियों की स्थिति है। विवाह-शादी, पार्टी आदि में रात्रि भोजन, हरी लॉन पर चलना सामान्य सी बात है। जूते पहने हुए जब हरी लॉन पर चलते हैं तो उनको रत्ती भर भी मन में विचार नहीं आता होगा कि उनके द्वारा जिस लॉन को रेंदा जा रहा है, उसमें कितने जीवों की हिंसा हो रही है। उसके आगे बात करें तो मोबाइल ने रहा-सहा यतना का सारा भाव खत्म कर दिया। बे वजह-आवश्यक नहीं होते हुए भी मोबाइल का स्विच ऑन कर बात करते रहते हैं। न खाने के समय छूटता है, न सोने के समय। यात्रा में भी साथ रहता है। ड्राइविंग करते हुए भी कई लोग उसका परहेज नहीं करते। एक बार फोन करने से तेऊ काय जीवों का घमसान होता है। असंख्यात जीव नष्ट हो जाते हैं। अनावश्यक रूप से मोबाइल करते रहना, खेल खेलते रहना यही दर्शाता है कि जीव विराधना के प्रति संवेदन नष्ट प्रायः हो चुका है। यह जैनत्व की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से बड़ी खतरनाक बात है। समय रहते हुए इसका उपचार होना चाहिये। अन्यथा धर्म केवल ऊपरी दिखावा-फंक्सन-कार्यक्रमाँ के रूप में बना रह जायेगा। अर्थ प्रधान दृष्टि से

समभाव को कैसे साधें

पानी की तरफ मुंह करने से, पानी को देखने से प्यास नहीं बुझती। मिठाई की दुकान के सामने खड़े रहने से मुंह मीठा नहीं होगा। बैंक के सामने खड़े हो जाने से या बैंक में चले जाने मात्र से रुपये प्राप्त नहीं हो सकते। इसी तरह धर्म स्थान में – मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि में चले जाने से धर्म मय जीवन बन जाए, यह जरूरी नहीं है। धर्म के लिए जरूरी है कि धर्म जीवन में उतरे। धर्म की क्रियाएँ करने मात्र से भी धर्म नहीं होगा, ऐसी बात सुन-पढ़ कर व्यक्ति विचार करता है कि फिर धर्म है क्या? धर्म है-समभाव। समभाव जीवन में आ जाय तो समझना चाहिये कि जीवन में धर्म प्रविष्ट हो पाया है। भगवान महावीर के समय उनके संतों की संख्या चौदह हजार थी पर केवली मात्र सात सौ ही बन पाये। इसका कारण क्या? स्पष्ट है भगवान का सामीप्य पाकर भी वे अपने भीतर रही भगवत्ता को प्रकट करने में समर्थ नहीं हो पाए।

समभाव, एक दिन की साधना का परिणाम नहीं है। उसके लिए कभी-कभी कई जिंदगियां भी लग सकती हैं। लग जाती हैं। कहीं-कहीं हमें तत्काल समभाव प्रकट होता दिखता है। जैसे माता मरु देवा, गजसुकमाल आदि। पर उस समभाव में उनके पूर्व जन्मों की साधना का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। कभी-कभी किसी जीव का तत्काल क्षयोपशम पकता है तो उसका परिणाम उसी समय नजर आने लगता है। पर ऐसा विरले ही होता है। सामान्यतया व्यक्ति को समभाव के लिए प्रयत्नशील होना होता है। उसका पुरुषार्थ ही रंग लाता है। जिससे वह शत्रु और मित्र दोनों को एक दृष्टि से देख पाने में समर्थ होता है। प्रश्न होता है समभाव की प्राप्ति के लिए क्या किया जाय? यदि सचमुच में समभाव प्राप्त करने की ललक है तो केवल एक ही प्रयत्न पर्याप्त है। वह, यह कि अपने में किसी भी घटना प्रसंग आदि के संबंध में

न शिकवा, न शिकायत

आत्मा-परमात्मा की चर्चा करना बहुत आसान है। पांच दस पुस्तकों को पढ़कर आत्मा-परमात्मा की चर्चा की जा सकती है। पर आत्मा की राह पर चलना बहुत कठिन है। आत्मा की राह चलने का अर्थ है आत्म-बोध की दिशा में बढ़ना। आत्म परिणति में जीना। आत्म-बोध हो जाने पर आत्म-बल संबर्धित हो जाता है। अपनी पहचान स्वयं को बली बनाने वाली होती है। भेड़ों के साथ रहने वाले सिंह शावक को जब स्वयं की पहचान हो गई तो वह भेड़ों के साथ नहीं रहा। उसकी एक दहाड़ से भेड़ें भाग गईं। आत्म-बोध संबंधित एक और दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत है।

प्रसंग है त्रिपृष्ठ वासुदेव के समय का, जब उसने शय्या पालक के कानों में गर्म गर्म शीला डाले जाने का आदेश दिया था। शय्या पालक तड़प रहा था। उसे आत्म-बोध नहीं था। वह स्वयं को कमजोर महसूस कर रहा था। वह विरोध कर सके ऐसा उसमें साहस नहीं था, परमन तो विरोध कर ही रहा था। उसने वैरानुबंध कर्मों का उपार्जन किया। इससे विपरीत आत्म-बोध से शक्ति सम्पन्न भगवान महावीर ध्यान में खड़े हैं, ग्वाले ने कान में कीलें ठोके। भगवान में शक्ति थी, विरोध कर सकते थे, उसे परास्त भी कर सकते थे पर मन विरोध से परे था। मन आत्म-भाव में लीन था। मन में मैत्री भाव का अजस्र झरना बह रहा था। मन में उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। कोई रियेक्शन नहीं। आत्म-परिणति में अनुकूलता-प्रतिकूलता का भेद खत्म हो जाता है। वहाँ शत्रु-मित्र एक हो जाते हैं। शत्रु भले ही शत्रुता रखे, पर वहाँ शत्रुता के भाव पैदा नहीं होंगे। यदि यों कहें कि वहाँ शत्रुता के लिए भूमि ऊसर हो चुकी होती है तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आत्म-ज्ञान जितना गहरा होगा प्रतिक्रियाएं उतनी ही कम होती हुई चली जाएंगी। वर्तमान में धर्म क्रियाओं को ही मुख्य रूप से धर्म माना जा रहा है। हकीकत में इन क्रियाओं का उद्देश्य भी आत्म-ज्ञान को प्रगाढ़ बनाना, समभाव को बढ़ाना है। सामायिक की साधना भी समभाव के लिए ही है। आत्म-ज्ञान का पोषण हो, यह उद्देश्य पौषध का है। हमारा आत्म-ज्ञान कितना बढ़ा इसका निर्णय हम

तृप्ति दायक वीर पथ

तीर्थकर देवों के बताये गये रास्ते पर चलने का प्रयत्न करना चाहिये। तीर्थकर देवों का संदेश है अहिंसा-सत्यादि। वर्तमान में परोपकार व पुण्य को धर्म का नाम दे हिंसा को भी धर्म का जामा पहनाया जा रहा है। परिणामस्वरूप हिंसा के प्रति आत्म-संवेदन क्षीण होता जा रहा है। अर्थ प्रधान एवं नाम प्रधान युग में धर्म एक प्रकार से धनवानों की धरोहर बन कर रह गया है। समाज में पैसों के बल पर जिन्होंने अपना वर्चस्व जमा लिया, समाज उनके कार्यों को मूक बनकर देखता रहता है। वह जो करे संविधान माना जाने लगा है। धर्म को धरोहर रखने वाले हिंसा-अहिंसा का भेद भी पूरा समझ नहीं पा रहे हैं। जिन्हें जीव-अजीव का ज्ञान ही नहीं तो वे हिंसा से संवेदनशील कैसे हो पायेंगे। कोई भी उनके कार्य कलापों से भली भांति जान सकता है। हरी लॉन पर चलना, पार्टियों में उस पर खड़े खड़े चलते फिरते खाते रहना, पानी के फौवारों में मौज करना क्या दर्शाता है? क्या उसमें होने वाली जीव हिंसा जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य है? क्या उसे अर्थ हिंसा कहा जाना चाहिये? धर्म क्षेत्र में यह धांधली क्यों चल रही है? इसका एक कारण धन के पीछे हो रही दौड़ भी है। दूसरा, ऐसा करने में व्यक्ति अपना वर्चस्व-स्टेटस मानता है। उसकी निगाह में शायद उच्चता का वही मापदण्ड होगा। एबॉर्सन जैसी घटनाएं चौंकाने वाली हैं। क्या ऐसा घृणित कार्य कोई भी धर्मी पुरुष कर सकता है। जो तीर्थकर देवों के अनुसार चलने वाला हो, उससे तो ऐसी आशा कतई नहीं की जा सकती। अर्थ युग में नाम की भूख ने जैन समाज-धर्म को भी हिला कर रख दिया है। क्या साधु क्या श्रावक। कई साधुओं के चर्चे सुने जा सकते हैं, जो दौलत की दौड़ में शामिल हो रहे हैं। फण्ड-फालो इकट्ठा करवाना, अपनी देखरेख में उनका उपयोग करवाना। भद्रिक भाई सोचते हैं समाज के हित में, समाज के लिए ही काम हो रहा है। पर वे यह नहीं सोचते कि ऐसा करके भगवान तीर्थकर देवों का नाम रोशन किया जा रहा है या उनके मोक्ष मार्ग को धक्का पहुँचाया जा रहा है। संवर निर्जरा की भावनाएं गौण होती जा रही हैं। इससे जैन धर्म की महत्ता विखण्डित होती जा रही है। अभी बहुत कम समय निकला है। अभी लम्बी यात्रा इस धर्म को

जिनवाणी में भरा अमृत

जिनवाणी अथाह ज्ञान राशि है। उस सारे समुद्र को विरले साधक ही पी पाते हैं। जिनकी मेधा प्रखर होती है, जिनका समर्पण गजब का होता है, जिनका अपनी इन्द्रियों, वृत्तियों पर पूरा कन्ट्रोल होता है, जिनका मन हवा के झोंको से ध्वजा पताका की तरह डोलायमान नहीं होता, जो शान्त-दान्त गम्भीर होते हैं, वे ही उस जिन वाणी को समग्र रूप से ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इससे हमें यह सीख लेनी चाहिये कि हम भी स्वयं में उक्त गुणों को विकसित करें। अपने भीतर रही कमजोरियों को दूर करने का प्रयत्न करें। जिन वाणी का निरन्तर स्वाध्याय करें। आत्म बोध को जागृत करें। बुद्धि को प्रवीण करें। निपुण अर्थ वाली बुद्धि बने। यानी बुद्धि तथ्य को ग्रहण करने में निपुण बने। बुद्धि की निपुणता से हमारी समझ प्रखर बनती है। शायद इसी आशय से कहा जाता होगा कि बुद्धिर्यस्य बलं तस्य। जिसके पास बुद्धि है वही बलवान है। उड़ती मक्खी किधर मुड़ेगी यह भांपने में जो बुद्धि सक्षम है, वह यदि सही दिशा में कार्यरत हो तो यह जिन वाणी में रहे गहन तत्वों को, तथ्यों को ढूँढ सकती है। लेकिन जब वही बुद्धि स्वार्थ परत बन जाती है तो महत्व लाभ से आत्मा को वंचित रख देती है। स्वार्थ परक बुद्धि छल-छद्मादि में लिप्त हो जाती है। जिससे उसकी दिशा ही बदल जाती है। व्यक्ति को चाहिये वह कम से कम अपने जीवन के प्रति पूर्ण ईमानदार रहे। वह यदि अपने जीवन के प्रति ईमानदार रह पाता है तो वह उस जिंदगी में आत्म विकास की ऊँचाइयों को छू सकता है। बस जरूरी है कि वह बुद्धि को जिनवाणी से प्रतिक्रमित रखे। वह जिनवाणी के प्रति गहरी आस्था से बाहर बुद्धि को न जाने दे। बुद्धि को बोध प्राप्ति का साधन बनाये। इसके लिए जरूरी है कि उसे पवित्र बनाये रखे। पवित्रता के लिए व्यक्ति का आचार-विचार-व्यवहार सात्विक होना जरूरी है। समय के नाम पर मन को कमजोर नहीं होने दे। दृढ़ता होगी

वार्धक्य अनिवार्य नहीं

बुढ़ापा-वार्धक्य जिंदगी का एक पड़ाव है। पर उस पड़ाव को लोग टालना चाहते हैं। नहीं चाहते उन्हें उस पड़ाव पर पहुँचना पड़े। उम्र तो ज्यादा चाहते हैं। जितनी है, उससे थोड़ी और भी बढ़ जाय तो उन्हें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। पर यह नहीं चाहते कि बुढ़ापा आए। क्या है ऐसा बुढ़ापे में जिससे लोग उससे बचना चाहते हैं ? बुढ़ापे का ही दूसरा नाम है जीवन का शिथिल होना। इन्द्रियों की शिथिलता। भोग भोगने की इच्छा तो शिथिल नहीं होती पर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, वे भोग भोगने को तरसती रहती हैं। विषय सामने हो भोग न सके तो तड़प जाती है। शिथिल-कमजोर होने पर इधर तो रोग हावी हो जाते हैं उधर घर के लोग अवहेलना करने लगते हैं। इस प्रकार दुर्बलता में दूनी मार भारी पड़ जाती है इसलिए लोग नहीं चाहते कि उन्हें वार्धक्य का मुँह देखना पड़े। पर यह भी नहीं चाहते कि उससे पहले अल्पायु में ही मृत्यु को वरण कर ले। जीने की इच्छा और बुढ़ापे की अनिच्छा, यह दुविधा उनको दुःखी बनाती रहती है। पर ऐसे लोगों को अब दुःखी होने की जरूरत नहीं है। वे चाहें तो दीर्घायु तक भी सशक्त बने रह सकते हैं। बुढ़ापा उनके नजदीक भी नहीं आ पायेगा। बुढ़ापा तो क्या उसकी छाया भी उसके पास फटक नहीं सकती। यह बात सुन अवश्य ही बुढ़ापे की तरफ बढ़ते व्यक्तियों की आँखों में आशा का संचार होगा। वे उत्सुक होंगे कि ऐसी कौन सी दवा है- फार्मूला है- जो बुढ़ापे से बचा सकता है? फार्मूला बहुत आसान है। बस मन बनाने की आवश्यकता भर है। वह फार्मूला है जीवन को कभी अति में मत ले जाओ। अति से बचो। भूख से कम खाओ। समय पर सोना समय पर उठना। न किसी का बुरा सोचें न किसी का बुरा करें। यदि कोई अपने लिए बुरा करे तो उस समय स्वयं को शान्त रखो। प्रतिक्रिया से बचो। चित्त की प्रसन्नता सदा बनी रहे। कैसी भी परिस्थिति आ जाय अधीर न बने। यही फार्मूला बुढ़ापे से बचाता है।

दिव्यता के चार सूत्र

रोहिण्येय चोर ने भगवान महावीर के द्वारा किये जा रहे देव वर्णन की चार बातें सुनी थी। यथा – (1) देवों की फूल माला कुम्हलाती नहीं। (2) पलकें झपकती नहीं। (3) शरीर की छाया पड़ती नहीं और (4) जमीन पर पैर पड़ते नहीं। इस पर विचार करते हुए ऐसा लगा कि देव प्रायः प्रसन्न चित्त वाले होते हैं। उसका प्रतीक वह माला है जो कभी कुम्हलाती नहीं। मनुष्य भी यदि उससे शिक्षा ले स्वयं को प्रसन्न-चित्त रखे तो उसकी जीवन माला भी कुम्हला नहीं सकती। पलकें झपकना अथवा आँखें टमकारना चांचल्य का प्रतीक है। देव जो जितना ऋद्धि सम्पन्न होता है उसमें चंचलता कम होती जाती है। मनुष्य भी दुःखी चंचलता के कारण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भय से चंचलता का गहरा सम्बन्ध है। अन्तर में भय व्याप्त होता है तो चित्त-चंचल बन जाता है। धर्म की सच्ची आराधना भय को दूर भगा देती है। जिससे चित्त का चांचल्य भी कम होता जाता है। तीसरी बात है तन की छाया नहीं पड़ती। जो व्यक्ति गर्व या हीन भाव में होता है उसकी छाया पड़ती है अथवा राग द्वेष की छाया से व्यक्ति व्यथित होता है। यदि गर्व या हीन भावों से व्यक्ति ग्रसित न हो अथवा राग द्वेष रंजित न हो तो वह दुःखी नहीं होगा। जैसे मध्य समय में तन की छाया नहीं पड़ती वैसे ही जब व्यक्ति समभाव में, माध्यस्थ भाव में रहता है तो उस पर दुःख की काली छाया नहीं पड़ती। जमीन पर पैर नहीं पड़ना चौथी बात है। व्यक्ति जब सदाचार का पालन करता है। परोपकार में लगा रहता है तो लोग उसे ऊँचा उठा लेते हैं। अर्थात् उसे भरपूर सम्मान देते हैं। यह पाँच जमीन पर नहीं पड़ने के समान है। इन चार बातों का व्यक्ति ध्यान रखे तो वह मानव जीवन में रहता हुआ भी देवत्व का अनुभव कर सकता है।

दिव्यता का सम्बन्ध वस्तुतः वैचारिक है। जिसके विचार जितने उन्नत होंगे, व्यवहार भी उसके अनुरूप होगा तो कोई दो राय नहीं कि उसके जीवन में देवत्व प्रकट न हो। उसके जीवन में दिव्यता की अनुभूति न हो। रोहिण्येय का जीवन उक्त चारों बातों के आधार पर ही तो बदला। बदलाव के लिए शिक्षाओं से भरी पुस्तकें कामयाब नहीं होंगी। कामयाब होती है समझ। रोहिण्येय को भगवान की बातों

पहचानें कैसे

व्यक्ति की पहचान पोशाक से नहीं हो सकती। पोशाक से व्यक्तित्व नहीं बनता। पोशाकें कई बार धोखा भी दे जाती हैं। धर्मात्मा व अधर्म में जीने वाले की पहचान भी ऊपरी क्रिया कलापों से नहीं की जा सकती। धर्मात्मा या अधर्मात्मा की पहचान के लिए व्यक्ति को उसके अन्तर में झाँकना होगा। हड्डी या नर्व की बीमारी को जानने के लिए जैसे एक्सरे या एम.आर.आई. की जाती है, वैसे ही धर्मात्मा या अधर्मात्मा को जानने के लिए उसके भीतर को टटोलना होगा। दूसरा उनकी पहचान कर पाये या न कर पाये पर व्यक्ति स्वयं अपनी परीक्षा कर सकता है कि उसका जीवन धर्ममय है या अधर्ममय।

धर्म मय जीवन की पहचान है- जिसका अपने पर अधिकार है। जिसका मन - इन्द्रियां उसके कंट्रोल में हैं। जिसका अपने पर शासन है। गीता के अनुसार धर्मात्मा स्थित प्रज्ञ होता है। यद्यपि यह ऊँची दशा है फिर भी धर्मात्मा का रास्ता वही है। वह उसी रास्ते पर बढ़ता है। उसके चित्त का कोई एक्सरे करना चाहे, करे तो उसका चित्त अविचल मिलेगा। चित्त में चपलता नहीं होगी। चपलता-अस्थिरता अधर्म के प्रतीक हैं। कोई व्यक्ति नकली राजा, बादशाह बन भी जाय तो वह लम्बे समय तक उसमें रह नहीं पाता। उसका कर्तृत्व झलके बिना नहीं रहता। चार अंधों की कहानी से यह स्पष्ट है। कैंसर का रोगी जिसके शरीर में कई घाव हो वह ऊपर से अच्छी पोशाक सजा ले तो वह निरोग नहीं हो जायेगा। उसका रोग तो शरीर में है ही। वैसे ही ऊपरी पोशाक व्यक्ति का असली रूप नहीं है। उसका असली रूप उसके अंतरंग से ही जाना जा सकता है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि व्यक्ति का पहचान हो ही नहीं सकती। व्यक्ति के व्यवहार से भी उसकी पहचान होती है पर कब जब वह व्यवहार कृत्रिम न हो। कहा भी तो है - सच्चाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से कि

जो मनस्ताप नहीं मनस्तोष दे

व्यक्ति शान्ति के क्षणों में विचार करे कि उसने क्या किया है ? क्या करना शेष है । उसने जो किया है वह आत्म-हित में कितना है ? उसने जो भी किया है उससे उसे संतोष कितना है ? क्या उसे अपने कृत्यों के प्रति खेद-खिन्नता भी पैदा होती है ? ये ऐसे कुछ प्रश्न हैं जिससे व्यक्ति स्वयं को समझ सकता है । यदि अब तक किसी ने ऐसा कुछ विचार नहीं किया हो तो उसे विचार करना चाहिये । ऐसा विचार करते करते ही उसे यह ज्ञात हो पायेगा कि उसके लिए करणीय क्या है ? उसने अब तक जो भी किया है वह उसके लिए करणीय था भी या नहीं ? वस्तुतः करणीय है वह जो आत्म-हित कारक हो । जिससे आत्म-हित न साधा जाय, उसे करने से क्या लाभ ? वैसे कार्य तो जीव ने अनादि काल से किये हैं । करते आ रहा है, पर क्या हुआ ? चतुर्गति भ्रमण के अतिरिक्त विशेष क्या किया ? कार्य तो वह है जिससे कर्मों के आँटे काटने में जीव समर्थ हो । क्रोध-मान-माया-लोभादि के वशवर्ती हो तो उसने बहुतेरे कार्य किये हैं । पर उससे न तो शान्ति ही मिली और न समाधि ही । हाँ अशान्ति-तनाव-बनाव जरूर बढ़े । इसलिए ऐसे कार्य करके समय व जन्म को व्यर्थ गंवाने जैसा ही समझना चाहिये । कार्य ऐसा होना चाहिये जिससे मनस्ताप न होकर मनस्तोष की स्थिति बने । ऐसे कार्य दो प्रकार के हैं। पहला एकान्ततः आत्म-हित कारक है यथा- सामायिक संवरादि की क्रियाएं । क्षमा मृदुतादि आत्म-भावों में रमण । दूसरे प्रकार के कार्य वे हैं जो सीधे तौर पर तो आत्महित के रूप में नहीं हैं पर प्रकारान्तर से आत्म-हित साधन में सहयोगी बनते हैं । वे कार्य हैं- निस्वार्थ भाव से परहित-परोपकार के कार्य । जैसे-विद्याध्ययन में पुस्तकें, ग्रन्थादि उपलब्ध कराना । आवश्यकता होने पर फीस आदि की व्यवस्था करना । रुग्ण व्यक्ति के उपचारादि में सहयोगी बनना । यद्यपि उक्त कार्य पुण्य परक हैं बशर्ते नाम-यशादि की चाह से रहित हो, पर ऐसे कार्यों से जो पुण्य संचय होता है वह आत्महित की दिशा में ले जाने वाला बन सकता है । अतः परम्परा से उसे आत्महित साधक माना

धर्मानुभूति कैसी ?

धर्म प्राप्ति के पश्चात व्यक्ति को अनुभूति कैसी होती है ? इसका उत्तर है एक-दो-तीन दिन के भूखे व्यक्ति को षट्हरस भोजन प्राप्त हो तो उसे कैसा अनुभव होगा । जैसे भूखे को भोजन, प्यासे को पानी मिल जाए तो उसके हर्ष का पार नहीं रहता, वैसे ही आत्मा को अपनी पहचान हो जाय - धर्म की प्राप्ति हो जाय तो उसे इतना आनन्द होता है कि उसको तौलना कठिन है । कोमा में गया व्यक्ति जब होश में आ जाय, स्वयं को जानने लगे, अंधे को आंख मिल जाए वैसे ही अपनी पहचान होने से आत्मा की दशा होती है ।

दूसरी बात, धर्म की प्राप्ति के बाद यदि उस पर विपत्ति भी आ जाय तो वह उसके लिए भगवान को याद नहीं करता । वह परमात्मा की प्रार्थना नहीं करता कि वह इस संकट से बच जाय । इतिहास के पृष्ठ देखें सेठ सुदर्शन, अंजना, मयणरहा (मदन रेखा) । नमिराजर्षि आदि किन्हीं ने संकट के समय परमात्मा को उससे उबारने-उबरने के लिए याद नहीं किया, जब अपने भीतर ही परमात्मा है - उसका अनुभव किया जा रहा है तो फिर उसका स्मरण क्यों किया जाय । जो प्राप्त न हो उसका स्मरण किया जाता है । जो प्राप्त हो उसे स्मरण करने का कोई अर्थ नहीं है । धर्म में वह शक्ति है कि आने वाली हर विपत्ति का मुकाबला- सामना किया जा सकता है । उसे किसी का मोहताज नहीं रहना होता । धर्म यानी-आत्म पहचान । आत्मा की पहचान से उसके अमित बल को भी वह जान लेता है । वह बल अन्य सभी बलों से बढ़कर होता है । भगवान महावीर को इन्द्र ने कहा था कि मैं आपकी सेवा में रह आने वाले उपसर्गों से रक्षा करना चाहता हूँ पर भगवान ने कहा तीर्थकर किसी के सहारे से साधना नहीं करते । वे अपने बल पर ही साधना करते हैं । कहा भी है - 'जो सुख में सुमिरन करे दुःख काहे को होय । दुःख में सुमिरन बेमानी है । सुख-दुःख हर वक्त सुमिरन में रहना जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिये । धर्म-अर्थात् हर वक्त अपने में जीना । इस बोध पर आवरण नहीं आने देना । इस प्रकार की दृष्टि का जागरण करना, धर्म प्राप्ति है ।

जानें धर्म का सत्य स्वरूप

धर्म का भले ही आज कोई मखौल उड़ाए पर कहना होगा उन्होंने अभी धर्म को जाना ही नहीं होगा। असली घी और डालडा में फर्क को जानने वाला ही जानता है। जिसने डालडा को ही शुद्ध घी मान लिया हो तो यह उसका अज्ञान है। वैसे उपचरित धर्म को धर्म मान लेने की गलती आज से नहीं सदियों से चल रही है। इस युग में यदि असली घी हर किसी को खाने को, देखने को नहीं मिले तो वह जो घी मिल रहा है उसे ही घी मानता है। वर्तमान में गाय का घी चार-पांच सौ रुपये किलो में भी बिक रहा है व हजार बारह सौ रुपये किलो भी। दोनों को शुद्ध घी बताया जा रहा है। इससे क्या यह प्रश्न नहीं उठता कि इतना अन्तर कैसे ? बस अन्तर को समझने वाला ही समझ सकता है। इसी प्रकार असली धर्म व डालडा धर्म के भेद को समझने वाला ही समझ पाता है। जो चार सौ रुपये किलो गाय का घी खरीद कर खायेगा वह उसके स्वाद को ही असली घी मानेगा। वह कभी हजार-बारह सौ रुपये किलो वाला घी खाए तो उसे असलियत का पता चले कि वह कैसा होता है अन्यथा वह कैसे जानेगा कि हजार-बारह सौ रुपये किलो वाले घी के स्वाद से चार सौ रुपये किलो वाले घी के स्वाद में अन्तर है। असली घी का केवल स्वाद से ही अन्तर नहीं है बल्कि असली घी कॉलेस्ट्रॉल पैदा नहीं करता। वह स्वास्थ्य वर्धक होता है। ऐसे ही असली धर्म अध्यात्म शक्ति वर्धक होता है। उससे काम-क्रोध-मद-मत्सर रूपी कॉलेस्ट्रॉल पैदा नहीं होता। उससे सहिष्णुता-धैर्यता-निर्भयतादि गुणों का विकास होता है। यह तथ्य मखौल उड़ाने वाले नहीं समझ सकते। उन्हें यदि असली धर्म से वास्ता हो सके तो ही उसके महत्व को जान पायेंगे। असली धर्म का अभाव नहीं है पर दुर्लभ अवश्य है। उस धर्म को विरले ही समझ पाते हैं। महान पुण्योदय एवं तदनु रूप क्षयोपशम-योग्यता से ही वह प्राप्त हो पाता है। धर्म का मजाक उड़ाने वालों से अपेक्षा है कि वे सच्चे धर्म को समझने का प्रयत्न करें। वे अपनी योग्यता बढ़ायें कि उन्हें वह धर्म प्राप्त हो सके। वे उस धर्म को जी सकें। जब वे उसे जी पायेंगे तब वे स्वतः धर्म के माहत्म्य को समझ पायेंगे। उस समय उन्हें बताना नहीं पड़ेगा कि धर्म-धर्म में

अपनी चाबी अपने हाथ

तीर्थकरों की साधना स्वयं को जीतने की रही है। उन्होंने दूसरों को जीतने में कोई महत्वपूर्ण लाभ नहीं देखा। उन्होंने अनुभव किया कि पिछले जन्मों में दूसरों पर जय पाने के ढेर सारे प्रयत्न किये जाते रहे पर उससे चतुर्गति रूप संसार में ही परिभ्रमण होता रहा। उससे अधिक और कुछ भी हासिल नहीं हुआ। उन्होंने स्वयं पर जय पाने के लिए आत्म-नियंत्रण-आत्मानुशासन के सूत्र का उपयोग किया। दूसरों पर अंकुश लगाने के पहले स्वयं पर अंकुश लगाना जरूरी है। स्वयं को नियंत्रित कर लिया तो अन्यो को नियंत्रित करने की कोई जरूरत नहीं रह जायेगी। स्वयं को नियंत्रित करने से जो आत्म शक्ति बाहर की ओर बह रही थी, वह रुक जाती है। स्वयं की शक्ति का संचय होने लगता है। परिणाम स्वरूप कठिन परिस्थितियों में भी वह विचलित नहीं होता, जिसे सहिष्णुता कहा जाता है। तीर्थकर देवों की साधना का अन्तर रहस्य यही है। इस पथ पर बढ़कर कोई भी अनुभव कर सकता है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो तीर्थकर भगवान ही नहीं, उनके संत व श्रावकों में भी जबरदस्त सहनशीलता थी। वे उपसर्गों को सहने में सुदृढ़ रहे। वे चाहे गजसुकमाल मुनि, अर्जुन मुनि के रूप में रहे हैं अथवा अर्हन्नक या काम देवादि श्रावकों के रूप में। उन्होंने उपसर्गों को जिस प्रकार से सहा उसके आधार पर कह सकते हैं कि वह सहनशीलता उन्होंने तीर्थकर देवों की धर्म प्रज्ञप्ति से ही प्राप्त की। कमठा सुर के उपसर्ग को भगवान पार्श्वनाथ ने अडोल-अविचल भाव से सहा। उसके प्रति मानसिक रूप से भी कोई शिकायत या प्रतिक्रिया पैदा नहीं हुई। इसे ही हम आत्म-शक्ति का संचय कहते हैं। यह संचय एक-दो दिन में नहीं होता। इसके लिए निरंतर सजगता पूर्वक आत्म-समीक्षण करते रहना होता है। ध्यान अवधान होना जरूरी है। सोते जागते उसी की खुमारी बनी रहनी चाहिये। कोई अपना कुछ भी बिगाड़ कर दे, उसके हार्द को समझने का प्रयत्न करो। जो भी बिगाड़ हुआ है, वह अपना है ही नहीं। अपना बिगाड़ हम स्वयं ही करते हैं। उस बिगाड़ से आत्म शक्ति का क्षरण होता रहता है। परिणाम स्वरूप सहन-शक्ति कम हो जाती है। मिट्टी के ढेर पर बिल्डिंग खड़ी नहीं होती। वह आर.सी.सी. के खम्भों

आचरण अर्हता के लिए

पत्थरों पर पेड़ नहीं उगा करते। पेड़ों को उगने के लिए चाहिये मिट्टी। पत्थर सख्त होता है। मिट्टी कोमल होती है। धर्माचरण का तात्पर्य है स्वयं को कोमल बनाना। धर्म क्रियाएं निश्चित रूप से सख्त-कठोर होनी चाहिये पर ध्यान रहे वे हमारे हृदय को कठोर न बनाएं। उन क्रियाओं से हृदय कोमल बनना चाहिये। कठोर जमीं को खोदने के लिए कठोर हल-फावड़ा कुदालादि का सहारा लेना पड़ता है। वे साधन सख्त होते हैं पर वे जमीन को पोली बना देते हैं। कोमल नरम बना देते हैं। इसी प्रकार हृदय को कोमल नरम बनाने के लिए भले ही क्रियाएं कठोर से कठोर करनी पड़े, करनी चाहिये। क्रियाओं को शिथिल नहीं होने देना चाहिये। शिथिल क्रियाओं से हृदय को कोमल बना पाने में समर्थ होना कम संभव है। मरु देवी माता के लिए सिद्ध बनने का कोई प्रश्न खड़ा करे तो वैसी घटनाएं आपवादिक होती हैं। राजमार्ग वह नहीं है। जिनकल्प साधु की बारह पडिमा-प्रतिमा आदि धारण करने वाले कठोर से कठोर क्रियाएं करते हुए आत्मा को कोमल नरम बनाने का प्रयत्न करते हैं।

कोई कह सकता है कठोर क्रियाओं से तो दिल कठोर ही होगा। पर बात ऐसी नहीं है। तीर्थंकर देव ही नहीं अन्यान्य साधक व उपासकों के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मारणान्तक कष्ट-उपसर्ग आने पर भी उन्होंने समझौता नहीं किया। वे धर्म पर डटे रहे। मरना कबूल है पर धर्म को छोड़ना मंजूर नहीं है। अतः क्रिया को औपचारिक नहीं माना जाय। उनका महत्व है। पर हाँ जो क्रियाएं हृदय को कोमल बनाने के बजाय हठी-दुराग्रही बनाएं, अथवा छल कपटादि के दुर्भाव पैदा करें, वैसी क्रियाएं सर्वथा वर्जित हैं। वे क्रियाएं आत्म-साधना में सार्थक नहीं हो सकती। कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य है कि धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य स्वयं को सिद्धत्व के योग्य बनाने का ही होना चाहिये।

मोक्ष की चाह, पर राह कैसी ?

मोक्ष की चाह किनको है किनको नहीं, यह तो पता नहीं पर किसी को पूछा जाता है कि आपकी साधना का उद्देश्य क्या है तो उत्तर प्रायः यही सामने आता है कि मोक्ष प्राप्ति। मैं जहाँ तक सोचता हूँ इस उत्तर को देने वाले अधिकतर लोग मोक्ष के विषय में जानते भी नहीं होंगे। नवतत्त्वों का ज्ञान भी शायद ही हो पर प्रवचनों आदि में उन्होंने सुना उसके आधार पर वे कहते हैं कि उनका लक्ष्य मोक्ष है। उनसे यदि पूछा जाय कि मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्होंने अब तक क्या क्या उपाय किये हैं तो उसका संतोष जनक उत्तर मिलना कठिन है।

मोक्ष सद्भूत है, इसमें कोई दो राय नहीं है। नहीं मानने वालों को मनवाने का आग्रह भी नहीं है। सत्पद प्ररूपणादि के द्वारा मोक्ष सिद्ध है। उसको पाने के लिए व्यक्ति को सुख और दुःख में एक रूप रहना होगा। अथवा यों कहें जब व्यक्ति की दृष्टि में दोनों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं रह जायेगा तब ही मोक्ष गमन की योग्यता प्राप्त कर पाता है। भौतिक सुख-साता यथार्थ नहीं है अर्थात् इन्द्रियों से जो सुख संवेदन होता है वह तत्त्वतः सुख नहीं है, दुःख रूप ही है। इस दृष्टि का विकास होने पर वह आत्मा के सुख का संधान कर पायेगा। आत्मिक सुख ही सच्चा सुख है। जो उसमें तृप्त हो जाता है, वही मोक्ष का अधिकारी है। आत्मिक सुख और भौतिक सुख में जो अन्तर है वह तृप्ति और अतृप्ति रूप है। आत्मिक सुख तृप्ति देता है। तृष्णा समाप्त हो जाती है। जीवन मरण का भेद भी उसमें समाप्त हो जाता है। वह अवस्था निराली होती है। उसमें किसी प्रकार की कोई चाह स्पृहा रह ही नहीं जाती। उस अवस्था को पाने के लिए बस केवल यह ध्यान रखना होता है कि भौतिक सुखों में लीन न हो। जीवन जीए पर आसक्त न हो, गृद्ध न हो। पराकांक्षा तृष्णा है। अनाकांक्षा तृप्ति है। भौतिक सुखों की न चाह रहे न उनकी पकड़। उनको पकड़ने का अर्थ है उनकी पकड़ में आ जाना। उनकी पकड़ में जो चला जाता है वह अतृप्ति के

उन्माद का उपचार

उन्माद कई प्रकार के होते हैं। मोह का उन्माद भी होता है। देवकृत उन्माद भी होता है। धर्म और धन का भी उन्माद होता है। उन्माद को एक मानसिक अवस्था कहा जा सकता है। मन उछाड़-पछाड़ खाता रहता है। एक जगह वह स्थिर रह नहीं पाता। उसकी चंचलता का कारण मोह है। मोह का उपचार देव-गुरु धर्म है। इनकी शरण को जो स्वीकार कर लेता है, मोह उसे उन्मादित कर नहीं पाता। इसके लिए देव, गुरु, धर्म की पहचान होना जरूरी है। जो मोह से ग्रसित हो उन्हीं को देव गुरु मान उनकी शरण ले कोई सोचे कि मैं सुरक्षित हो गया तो वह उसकी भूल होगी। उससे वह सुरक्षित नहीं हो सकता। 'फायर प्रूफ' ड्रेस के नाम पर कोई कॉटन या प्लास्टिक की ड्रेस पहन आग में उतर जाय तो क्या आग से वह सुरक्षित रह पायेगा वह पोशाक-ड्रेस क्या उसे सुरक्षा प्रदान कर सकता है? सर्प से बचने के लिए कोई नेवला-मयूर-गरुड़ की शरण के बजाय मेढक की शरण ले तो क्या वह सुरक्षित रह पायेगा। जो मेढक स्वयं सर्प से भय खाता है वह उसकी क्या रक्षा कर पायेगा। वह नेवला-मयूर-गरुड़ की शरण में गया होता तो स्वयं को सांप से बचा सकता था। इसी प्रकार सच्चे देव, गुरु, धर्म की पहचान होना जरूरी है। उसके अभाव में मोह का उपचार होना कठिन है। जहाँ मोह का साया-छाया बनी रहे, वहाँ व्यक्ति कैसे सुरक्षित रह पायेगा। उसे मोह से सुरक्षित होना है तो उस स्थान की खोज करनी होगी जहाँ मोह की पहुँच न हो। वह स्थान है देव-गुरु-धर्म।

देव- जो वीतरागी हो। जिस पर मोह की छाया न पड़ती हो। जिस पर मोह का वश न चल पाता हो। जो राग-द्वेष-मोहमाया को जीत चुके हों।

गुरु- जो कनक कामिनी के त्यागी हों, स्वयं सदाचारों में जीते हैं, अर्हत्त-धर्म का, आर्षवाणी को आधार बना कर उसी रूप से मोह को वश में करके चल रहे हैं। जो जितेन्द्रिय हो। जिनका अपनी इन्द्रियों व मन पर नियंत्रण हो।

धर्म- आत्म-भाव में जीना। शम, संवेग, निर्वेद का झरना जिसमें प्रवाहित होता हो। जिसके आश्रय से जीव उपशम भाव में जी सके। इस प्रकार से देव-गुरु-धर्म के स्वरूप को समझ कर, उनकी

निशाना खाली नहीं जाय

निशाना सही होता है तभी जीव जय पाता है। बन्दूक से गोलियां- कारतूस खूब छोड़े, धनुष बाण से सर वर्षा कर तूणीर खाली कर दे पर निशाना न सधे तो सारे व्यर्थ ही गये समझे जाते हैं। मक्खन को तपाने के लिए उसे बर्तन में रख आग पर रख दिया पर देखा नहीं कि वह बर्तन तो ऐसा है जिस पर अग्नि का असर ही नहीं होने वाला है। उसे आग पर कितना ही तपाया जाय मक्खन न तो पिघलेगा और न ही घी ही बन पायेगा। इसी प्रकार साधना के क्षेत्र को समझना चाहिये। उपवास-बेला-तेला- मासखमण - अर्धमास खमण आदि अनेकविध तप से आत्मा को तपाने का प्रयत्न किया जाता रहे पर राग-द्वेष की निबीड़ ग्रन्थि यदि बनी रहे तो उस तप का ताप आत्मा तक जा (पहुँच) ही नहीं पायेगा। बिना ताप लगे आत्मा के काषायिक भाव गल-जल नहीं पायेंगे। इस प्रकार का प्रयत्न बिना निशाना साधे बारूद व तीर छोड़ने के समान है। कोई कितनी बारूद वर्षा व तीर चला दे, उससे वह सफल होने वाला नहीं है। तपादि क्रियाएं भी बिना लक्ष्य के कोई कितनी भी करता रहे, उससे उसे सफलता मिल नहीं पायेगी। महाराजा चेटक का एक भी निशाना खाली नहीं जाता था। वैसे ही साधक की एक भी क्रिया निरर्थक नहीं जानी चाहिये। वह परिणामदायी होनी चाहिये। इसके लिए साधक को पहले यह तय करना चाहिये कि उसका लक्ष्य-साध्य क्या है? वह तप जप, नियमादि क्रियाएं किसलिए कर रहा है? उसका निशाना क्या है? साध्य तय हो जाने पर जो भी वार हो वह उसी पर हो। साधक का लक्ष्य कर्म-निर्जरा का होना चाहिये। वह जो भी क्रिया करे, वह कर्म निर्जरा के लक्ष्य से करे। एक नवकारसी भी कर रहा हो तो वह भी कर्म-निर्जरा के लिए ही होनी चाहिये। ऐसा करने पर ही वह आत्म-शोधन में सफल हो सकता है। अन्यथा अज्ञान-तप चाहे वह कितना भी करे वह सब बिना साध्य के तीर चलाने के समान है। सोचें! हम जो भी धर्माचरण-धर्म क्रियाएं कर रहे हैं क्या वे सारी की सारी कर्म निर्जरा के लिए ही हो रही हैं? या उसके

आत्म-सुरक्षा-कवच

बुरा मत सोचो, बुरा मत बोलो, बुरा मत करो। यह आत्म-सुरक्षा कवच है। जब व्यक्ति किसी के प्रति भी बुरा सोचता है, बोलता है या बुरा करता है, वह अपने ही सुरक्षा कवच का भेदन कर रहा होता है। सामने वाले का बुरा होगा या नहीं पर अपना होना सुनिश्चित है। दूसरे पर कीचड़ फेंकने के लिए कोई हाथ में उसे उठाए, और फेंके, दूसरे पर वह कीचड़ जायेगा या नहीं, उसे कीचड़ लगेगा या नहीं, पर कीचड़ फेंकने वाले के हाथ तो कीचड़ से भर ही गये। इसी प्रकार अन्यों के लिए बुरा सोचने वाला अपने मन को, बुरा बोलने वाला अपने वचन को एवं बुरा करने वाला अपनी काया को दूषित कर लेता है। अतः निष्कर्ष की भाषा में बुरा मत सोचो, बुरा मत बोलो और बुरा मत करो।

बुरा सोचने आदि का अर्थ क्या है? दूसरे को, स्वयं को दुःख, कष्ट पहुँचाने की भावना से जो किया जाता है उसे बुरा कहा गया है। यद्यपि रावण सीता को गोद में उठाकर ले गया था, फिर भी उसका उद्देश्य सही नहीं होने से उसे बुरा ही माना जायेगा। इससे विपरीत सीताजी ने रावण को खरी-खरी पर कठोर शब्दों में बातें कही थी। सुनने में वे शायद अच्छी न लगे पर सीताजी का भाव रावण को दुःख पहुँचाने का नहीं था इसलिए उसकी वह क्रिया बुरी नहीं मानी गयी। किसी भी कारण से आदमी व्यथित हो आत्म-हत्यादि का विचार करता है, वह स्वपक्ष में बुरा सोचता है। क्रोध करना, शराब पीना ये भी स्वपक्ष में बुरी क्रियाएँ हैं। मुँह से गाली-गलौज बकना स्व-पर-उभय-पक्ष में बुरा है। इसलिए जब भी स्व-पर के लिए सोचे तो भलाई का सोचें। मैं अपना आत्म कल्याण कैसे करूँ? मैं दूसरों के आत्म-कल्याण में कैसे सहायक बन सकता हूँ। आर्त व्यक्ति का आर्त-भाव दूर करते हुए उसे सांत्वना देना उसे धर्म मार्ग का बोध देते हुए आश्वस्त करना, ये भलाई के कार्य हैं। जो दूसरों के लिए भला सोचता है उसमें अपनी भलाई तो रही ही हुई है। दूसरों का भला हो भी सकता है, न भी हो, पर आत्म-हित तो निश्चित है। रावण ने बुरा किया तो बुरा फल पाया। राम ने अच्छा किया तो अच्छा फल

दायित्व-निर्वाह भाव से

तीर्थकर भगवंतों का मार्ग अनेकान्त दृष्टि वाला है। वहाँ द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव को लक्ष्य में रखकर विचार करना होता है। एक क्रिया अमुक समय में महत्वपूर्ण हो सकती है पर वही क्रिया किसी अन्य समय में त्याज्य भी हो सकती है। उदाहरणार्थ कोई श्रावक संवत्सरी का पौषध करता है किन्तु एक बार उसके माता-पिता को काफी तकलीफ हो गई, संगीन बीमारी हो गई, उस अवस्था में उसे अन्य कोई संभालने वाला नहीं था। उस श्रावक को ही संभालना था, उस परिस्थिति में उसे संवत्सरी का पौषध छोड़ना पड़ा, नहीं कर पाया। पौषध करना अच्छी क्रिया है पर परिस्थिति वश उसे छोड़ना पड़ा। उस समय यदि वह माता-पिता के स्वास्थ्य को गौण करके पौषध करता तो उसके पहले व्रत में अतिचार जैसी स्थिति बन जाती। सात-शिक्षा व्रत मूल व्रतों के पोषक होते हैं। मूल व्रतों को पुष्ट करने के लिए सात-शिक्षा व्रतों की बात कही गई है। मूल को सुरक्षित रखते हुए ही शिक्षा व्रत आराध्य होते हैं। वह श्रावक जो संवत्सरी का पौषधोपवास नहीं कर सका, उसे खिन्न नहीं होना चाहिये कि वह पौषध नहीं कर सका। उसे माता-पिता के सामने बार-बार या एक बार भी नहीं कहना चाहिये कि तुम्हारे कारण मेरा पौषध नहीं हो पाया। उसे मन में भी यह विचार नहीं आना चाहिये कि उसका पौषध छूट गया। तपस्या के पचक्खण में एक महत्तरागोरण आगार होता है। विशेष निर्जरा के प्रसंग से चालू तप का पारणा भी करना पड़े तो वह बेहिचक वैसा करने को तत्पर रहता है। उसका मुख्य ध्येय निर्जरा का है, वह अवसर जब जैसे मिले उसे तत्पर रहना ही चाहिये। शास्त्रकारों ने साधुओं के लिए भी बताया है कि कदाच किसी को रुग्ण मुनि की सेवा का अवसर मिल जाय, उसकी वैयावद्य में वह अन्य ज्ञान-ध्यान स्वाध्यायादि कुछ भी न कर सके तो उसे कोई विचार नहीं करना चाहिये कि वह ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय नहीं कर पा रहा है। वह शाब्दिक स्वाध्याय भले ही नहीं कर पा रहा हो पर वह जीवन्त स्वाध्याय कर रहा है। संभव है वह उस स्वाध्याय से भी इस स्वाध्याय में कर्मों की निर्जरा अधिक कर ले। पर हाँ वह वैद्यावच दिल से करे। उसमें कोई कोताही नहीं बरते। कहने का आशय तीर्थकर देवों के धर्म को द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव के

सदा स्मृति बनी रहे

बेटी और बहू में थोड़ा अन्तर है। व्यक्ति वही है, पर अवस्था—पर्याय बदल गई। बेटी जब तक घर में रहती है उस समय उसका जो रहना होता है, बहू बनने के बाद जो रहन सहन होता है, वह कुछ अलग होता है। उस अलग रहन सहन का कारण है उसकी धारणा। उसकी धारणा में जम जाता है कि अब वह बहू है। यह धारणा उसके व्यवहार को बदल देती है। श्रावक को, साधु को भी यह धारणा होनी चाहिये की वह सामान्य व्यक्ति नहीं, श्रावक है, वह साधु है। श्रावक—साधु होना स्मृति में बना रहता है तो उससे उसका व्यवहार भी श्रावक व साधु की तरह होता है। प्रसन्न चन्द्र राजर्षि जब भूल गये कि वे साधु हैं, उस समय वे भाव युद्ध करने लगे थे। साधुता की स्मृति उनमें बनी रहती तो वैसा अकृत्य उनसे नहीं होता। यह उनके जीवन की घटना से स्पष्ट है। भाव युद्ध के समय जैसे ही उनका हाथ शिर पर गया उनकी स्मृति उभर आई कि वे साधु हैं। उससे उन्हें भाव युद्ध का अफसोस होने लगा कि उन्होंने यह क्या कर डाला। यह घटना दर्शाती है कि श्रावक—साधु को अपने व्रतों की स्मृति बनी रहनी चाहिये। प्रतिक्रमण के समय व्रतों को दोहराने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे व्रत उसकी स्मृति से ओझल न हो जायं, स्मृति में बने रहें। श्रावक के सामायिक व्रत के अतिचार में 'सामायिक की स्मृति न रही हो' यह भी बताया है। वस्तुतः स्मृति बने रहने से व्यक्ति अकृत्य से बच जाता है। वह अकृत्य में प्रवृत्त हो नहीं पाता। साधु की भिक्षा विधि में जिस प्रकार से अहिंसा तत्व को महत्व मिला है, वह अद्भुत है। उसके कारण साधु हिंसाकारी प्रवृत्ति को प्रश्रय दे नहीं पाता। जब साधु उन संस्कारों को अपलाप कर देता है या उसके स्थान पर 'लापरवाही' 'चलता है' के संस्कारों को महत्व देने लगता है तो मूल स्वभाव छिन्न—भिन्न होने लगता है धीरे—धीरे वे संस्कार उसके क्षीण प्रायः हो जाते हैं। जिससे वह साधुता को गौण कर देता है। यह शैलक राजर्षि के वर्णन से जाना जा सकता है। कुल मिलाकर श्रावक हो या साधु उसे अपने श्रावक होने का, साधु होने का स्मरण बने रहना चाहिये। जैसे एक दुकानदार की नजरों में दुकान की सारी चीजें रहती हैं, मनीहारी आइटम अनेक प्रकार के होने पर भी दुकानदार की स्मृति से वे विस्मृत नहीं होते, वैसे ही साधु श्रावक को अपने त्याग—नियम व्रतादि का स्मरण सदैव बने

आस्था-उल्लास से अभ्यास

नकारात्मक विचारों से व्यक्ति जब गिर जाता है, उसकी नींद हराम हो जाती है। वह अपना आपा खो बैठता है। उस समय वह कितने कितने निकृष्ट विचारों की कल्पना करता रहता है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अधमाधम विचार उसमें कौंधते रहते हैं। हिंसात्मक भाव भी उभरते रहते हैं। नफरत चरम सीमा तक पहुँच जाती है। वैर के भाव जागृत होते रहते हैं। असत्कल्पनाओं का बाजार गर्म रहता है। यूँ कह दिया जाय कि उस समय उसके विचारों की गाड़ी बिना ब्रेक के चलती रहती है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह अवस्था उसके स्वयं के लिए बड़ी घातक है पर उस समय उसके ज्ञान चक्षु बन्द हो जाते हैं। उसकी बुद्धि उसके वश में नहीं होती। उस पर एक नशा सा छा जाता है। उस नशे में ही वैचारिक रूप से वह कहाँ से कहाँ तक पहुँच जाता है। क्या—क्या कल्पनाएं वह उस समय कर बैठता है, बाद में वह स्वयं ही शर्मिन्दगी महसूस करने लगता है। वह दूसरों से आँखें मिलाने में भी कतराता रहता है। इस घातक खेल से व्यक्ति को बचना चाहिये अन्यथा कभी भी बी.पी., सुगर आदि के कारण वह खतरे में जा सकता है। प्रश्न होगा कि इस स्थिति से बचें कैसे ? इससे बचने के लिए सबसे पहली बात है — मन को इसके लिए तैयार करना। इच्छा शक्ति को प्रबल बनाना। उसके बाद जरूरी है जागरूकता की। जैसे ही मन फिसलने लगे, उसे रोकें। सकारात्मक विचारों से उसे अनुप्राणित करें। सकारात्मक सोच वाले उत्तम पुरुषों का स्मरण करे। और कुछ याद न आए तो लोगस्स के पाठ का धीरे—धीरे अर्थावगाहन करते हुए उच्चारण किया जाय। उसमें तन्मय बने। अन्य विचारों को गौण करे। हो सके तो प्रतिदिन आत्म—भावित करे। धारणा बनाए। संकल्पित हो। संकल्प को सम्यक् प्रकारेण निभाने का प्रयत्न करें। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास—उल्लास से नकारात्मक सोच की शृंखला से स्वयं को मुक्त कर सकेंगे। कभी—कभी यदि बीच—बीच में नकारात्मक विचार आने लगे तो हताश न हो। हिम्मत नहीं हारे। 'अभ्यासेन क्रिया सर्वाः' अभ्यास करते रहने से सब साधा जा सकता है। अभ्यास बहुत जरूरी है। कहा भी गया है — 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान'

अतः अभ्यास के प्रति आस्था—विश्वास रखते हुए स्वयं को अभ्यास में लगाये रखे। मन बीच—बीच में तर्क प्रस्तुत कर सकता है, इतना समय हो गया अभ्यास करते ...। बीमारी पुरानी हो तो

संयम-सुख का द्वार

विद्वता बढ़नी चाहिये । बढ़े, पर विनय-शिष्टाचार घटना नहीं चाहिये । विद्या-विनयशील बनाने वाली होनी चाहिये । विद्वता वह शोभनीय है जिसमें संयम का ओज हो । संयम को फटका लगा जो विद्या बढ़ती हो तो वह विद्या खतरा पैदा करने वाली होगी । उसमें विद्रोह-अलगाव वादी भावनाएं उत्प्रेरित होने की बहुतायत संभावनाएं हैं । आत्म कल्याण की भावना रखने वाले के लिए संयम मुख्य है । संयम ही मुकुटमणि है । उसके साथ विद्वता हो तो सोने में सुगन्ध या सोने में सुहागा । पर जो विद्या संयम को फटका लगाये उसे नजदीक भी नहीं फटकने देना चाहिये । स्वर्ण के साथ सुगन्ध स्वीकार की जा सकती है पर सोने को छोड़ कर सुगन्ध को महत्व देना नासमझी भरा खेल है । उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये ।

वर्तमान युग में संयम के बजाय विद्वता को महत्व ज्यादा मिल रहा है । विद्वता को भी नहीं भाषण कला को महत्व ज्यादा मिल रहा है, यदि कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । लोगों को प्रवचन पटु संतों की अपेक्षा रहती है । प्रवचन पटु संत हो तो श्रोताओं की उपस्थिति बढ़-चढ़ कर होने लगती है । संयमी की भावना उस दौड़ में सहभागी बनने की नहीं हो सकती । पर यदि संयमियों की भावना उस प्रतिस्पर्धा की दिशा में मुड़ गई तो क्या होगा ? विचार करना चाहिये । श्रोता ध्यान रखे या न रखें, संयमी आत्माओं को यह अवश्य ध्यान रखना है कि उनके भावों में संयम ही मुख्य रहे । विद्वता हासिल कर सकें तो बहुत अच्छा पर संयम-भाव मंद नहीं पड़ना चाहिये । दोनों शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं । विद्वता ज्ञानवरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिलती है जबकि संयम चरित्र मोह कर्म के क्षय-क्षयोपशमादि से प्राप्त होता है । अतः दोनों लाभ मिले तो बहुत अच्छा अन्यथा संयम के प्राप्त लाभ को तो आत्मस्थ रखना ही चाहिये । संयम ही सुख का द्वार है । विद्वता हेय नहीं है, उपादेय है, पर संयम उसमें भी मुख्य है ।

ध्रौव्य पर स्थिर रहें

सद्भूत पदार्थ में तीन अवस्थाएँ बनती हैं । उत्पाद-उत्पन्न होना, व्यय-नष्ट होना तथा ध्रौव्य पदार्थ का बने रहना । इससे उत्पन्न-व्यय में तटस्थ रहने की सीख मिलती है । जो उत्पन्न एवं व्यय-नष्ट में तटस्थ बना रह सकता है, उसे दुःख पैदा नहीं होगा । वह अपने ध्रौव्य रूप में स्थिर रह सकता है । उत्पन्न-विनाश होना पदार्थ का स्वभाव है । यह न कभी रुका है, न कभी रुक पायेगा । यह प्रवाह सतत-निरन्तर चलता रहा है, चलता रहेगा, यह समझ व्यक्ति को हो जानी चाहिये । जीवन में उत्पन्न विनाश के क्षणों में व्यक्ति स्वयं को एक रूप रख नहीं पाता, उसका कारण मोह है । मोह से मन विभ्रम में पड़ जाता है । जिस समय मोह से मन आवृत्त होता है, उस समय उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है । जैसे घने कोहरे के समय सामने क्या है, वह साफ-साफ दिखता नहीं, वैसे ही मोहावृत्त बुद्धि से सत्य तथ्य को देखा-जाना नहीं जाता । लेकिन जो मोह के आवरण को चीरने में समर्थ हो पाता है, वह सत्य-तथ्य को जान पाता है और उत्पन्न-विनाश के क्षणों में भी स्वयं को उनसे अप्रभावी बनाये रखता है ।

कठिनाइयाँ-मुश्किलें भी उस शख्स को विचलित नहीं कर सकती हैं । कठिनाइयों को व्यक्ति जब स्वीकार करता है तो वे उसे परेशान करती हैं । वह यदि स्वयं को तटस्थ बनाये रखे तो सारी कठिनाइयाँ किनारे से निकल जाती हैं । जैसे नदी की चट्टानों से पानी किनारे-किनारे बह कर निकल जाता है, उसी प्रकार जो स्वयं को चट्टान की तरह सुदृढ़ रखे तो जैसे चट्टान में वर्षा का पानी घुस नहीं पाता, उसके ऊपर से फिसल कर निकल-बह जाता है, वैसे ही कठिनाइयाँ उसके कुछ भी बिगाड़ किये बिना बह जायेंगी । इतना ही नहीं बल्कि पानी से धुलने जाने पर जैसे चट्टान साफ हो जाती है वैसे ही व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर जाता है । लोग हजारों वर्षों तक उसे याद रखते हैं । यह दृढ़ता उत्पन्न-विनाश के प्रवाह में बहने से नहीं आ सकती है । उत्पन्न-विनाश समुद्री लहरों के समान है, जिनका अस्तित्व क्षणिक होता है । पर समुद्र का अस्तित्व सदा बना रहता है । इसी प्रकार पदार्थ में ध्रौव्यता सदा विद्यमान रहती है । अतः पदार्थ के स्वरूप को समझते हुए स्वयं को ध्रौव्य पर स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिये ।

अपने रंग की रंग दे चुनरिया

दूध में केशर की पंखुड़ियाँ डाली गईं तो उनके गलने से दूध में थोड़ा-थोड़ा रंग आने लगा, पर पूरा दूध केशरिया नहीं बन पाया। थोड़ा-थोड़ा रंग आने से केशर फूलने लगी कि मेरा रंग चढ़ रहा है। पर बहुत सारा दूध अभी सफेद ही पड़ा है, उसके कारण केशर खिन्न हो गईं। जिसने केशर पंखुड़िया दूध में डाली थी, जब उसने देखा कि ऐसे केशर का असर आयेगा नहीं, तो उसने केशर पंखुड़ियों को खरल में डाला और बारीक पेस्ट बना दूध में मिला दिया। अब पूरा दूध केशरिया बन गया।

यह एक रूपक है, पर इससे जीवन जीने की कला प्राप्त होती है। दूसरों को अपना बनाने का गुर मिलता है। कोई स्वयं को मिलाना न चाहे और सोचे कि दूसरे उसके रंग में रंग जायें तो ऐसा नहीं होता। दूसरों को अपना बनाना है तो स्वयं उनमें मिल जाओ। सर्वतो भावेन समर्पित हो जाओ तो सबको अपना बनाया जा सकता है। दूसरों में स्वयं को मिलाना सीखो। दूसरों के अन्तर में प्रवेश करना सीखो। दूसरों के दिल में अहंकार 'ईगो' रखकर प्रवेश नहीं पाया जा सकता है, पर समर्पण से, दूसरों का बन जाने से दूसरों को अपना बनाया जा सकता है। केशर, दूध में घुलकर पूरे दूध को केशरिया बना दिया। पूरा दूध उसकी सुगन्ध से सुगन्धित हो गया।

यह केशर की समर्पणा का ही प्रभाव है कि दूध को वह अपना रंग व सुगन्ध दे पाई। जैसे केशर ने अपने को दूध में मिलाया, वैसे ही यदि धर्म में, परमात्मा में हम स्वयं को मिला दें तो परमात्मावत बन जायेंगे। परमात्मा के रंग में हम रंग जायेंगे और परमात्म भाव की सुगन्ध से स्वयं को सुगन्धित भी कर पायेंगे। बस, हम अपने 'अहं' को निकालने का प्रयत्न करें। एक 'अहं' ही ऐसा है जो अपना प्रभाव जमाना चाहता है, जिससे दूसरों से मिल पाना, एकमेव हो पाना संभव हो नहीं पाता। एक छोटी सी आलपिन मेटल डिटेक्टर को पार नहीं होने देती। भीतर जाने नहीं देती। वैसे ही एक छोटा सा अहं बाहुबली जी को केवली नहीं बनने दे रहा था। छोड़ो उस छोटे से 'अहं' को और अपने में प्रवेश कर जाओ।

विद्रोह, क्रान्ति नहीं है

विद्रोह का नाम क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति सत्य की दिशा में अग्रसर होने का नाम है। रूढ़िवादिता से जहां सत्य आच्छादित होने लगे, ओझल होने लगे, उस समय उस रूढ़िवादिता के जाल से स्वयं को, समाज को मुक्त कराने की दिशा में बढ़ाया गया कदम क्रान्ति है। बाप से बेटा, भाई से भाई धनादि के लिये विद्रोह करे, समाज से बदला लेने के लिये कोई विद्रोह करे, परिवार के या किसी भी सदस्य के प्रति मन प्रद्वेष युक्त हो जाय, उसे मजा चखाना है, इस भावना से की गई कार्रवाई क्रान्ति नहीं, विद्रोह है। अपने मन के अनुकूल नहीं होने मात्र से परिजनों से, गुरुजनों से, समाज से नाता तोड़ना अलगाववादी विचारधारा का रूप है। वह विद्रोह का ही एक अंश है। उसमें सत्य सम्मुख नहीं होता। दूसरों को दोष दे देना मात्र सत्य की दिशा में गमन नहीं है। यथार्थ बोध पूर्वक उठाया गया पगला-कदम वह सत्य सापेक्ष होता है। जिससे अपना-समाज का हित साधन होता है, उसे ही क्रान्ति कहा जाना उपयुक्त है।

पूज्यपाद श्री हुक्मी चन्द जी म.सा. ने जो कदम उठाया वह सत्य सापेक्ष था। मैं उनको मानता हूँ इसलिये यह बात कह रहा हूँ, यह बात नहीं है। उन्होंने गुरु से संयम को रूढ़िवादिता के जाल से मुक्त कराने का निवेदन किया। एक बार नहीं, अनेक बार विनय भाव से निवेदन किया। उनका लक्ष्य सुधार था। उनका लक्ष्य अपना वर्चस्व स्थापित करना नहीं था। कोई सत्य शोधार्थी होगा तो वह इसे जान सकता है। आचार्य श्री गणेश का श्रमण संघीय अनुशास्ता से स्वयं को मुक्त करने का उद्देश्य भी संयम को सुरक्षित रखना था। उसके लिये उन्होंने लम्बे समय तक श्रमण संघ में रहते हुए प्रयत्न किये, पर जब मर्ज बढ़ता ही गया तो ऑपरेशन-शल्य क्रिया आवश्यक हो गई थी। इन्हें हम क्रान्ति का रूप कह सकते हैं, क्योंकि इनमें क्रान्ति का तत्त्व मौजूद है। उनके इन कार्यों, में अलगाववाद या विद्रोह का भाव नहीं था। अतः क्रान्ति और विद्रोह को समझें।

आचार्य-पद की गुरुता

आचार्य पद गरिमामय, गौरवमय है। उसकी गुरुता का बखान आगम करता है। यह पद ऐशो-आराम के लिये नहीं है। हुकूमत चलाने के लिये नहीं है, अपितु एक माता की तरह साधकों का संरक्षण करते हुए उन्हें सदाचार के पथ पर सुस्थिर रखना एवं सम्यग् गति देना है। मां वात्सल्य की मूर्ति होती है। यह उसके जीवन का एक पक्ष है। उसके जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि यथा प्रसंग उसे चण्डी का रूप भी धारण करना होता है। वह रूप भी मातृत्व का ही विरुद्ध निभाता है। आचार्य भी वात्सल्य की प्रतिमूर्ति होते हैं, पर कभी-कभी उन्हें भी कड़ा रुख अखितयार करना पड़ता है। वह कड़ा रुख भी स्व-पर हित कारक ही होता है। श्री मदुत्तराध्ययन सूत्र इसका साक्षी है- 'जं मे बुद्धानसासंति सीएण-फरुसेण वा'। इस पक्ष को पुष्ट करने वाला अन्य कथन भी है- 'आयरियं कुवियं नच्चा'। आचार्य कुपित क्यों होंगे? उनका क्या स्वार्थ है? उनका एक ही ध्येय है। निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति सुरक्षित रहे। निर्ग्रन्थ, ग्रन्थी में नहीं उलझे। गर्गाचार्य एवं कालकाचार्य के वृत्तांत से हम जान सकते हैं कि उन महान पुरुषों ने सत्य-संयम शील सदाचार की रक्षा के लिये मान-समान को पीठ दे दी। नहीं चाहिये मान। नहीं चाहिये सम्मान। उन्हें चाहिये निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा। वही है उनका सबका जीवन प्राण।

आचार्य श्री गणेश ने भी तो उन्हीं आचार्यों के आदर्श को सम्मुख रखा। ग्यारह सौ इकतालीस साधु-साध्वियों का मान-सम्मान पाता रहूँ और जो चले उसे चलने दं। नहीं, उन्हें ऐसा स्वीकार नहीं था। वे आँख बन्द करके जीने के पक्ष में नहीं थे। उनकी इच्छा थी चौबीस कैरेट स्वर्ण की। भले ही वह थोड़ा ही हो। वे यह मानते थे कि 'चंदन की लकड़ी भली, गाड़ा भरा न काठ।' चंदन की एक लकड़ी में जो है वह गाड़ियाँ भरे काष्ठ की तुलना में कहीं अधिक है। गाड़ी भरे काठ के साथ चंदन भी जल जाय यह भला उन्हें कैसे सुहाता। उन्होंने चंदन की लकड़ी की सुरक्षा के लिये होने वाली अवमानना-तिरस्कार-असहयोग को नजर अन्दाज कर दिया। पर हां, वे चंदन की लकड़ी को बचाने में सफल रहे। यही उनके जीवन की जीत है। इसके लिये उन्हें कड़ियों की नाराजगी भी क्यों न झेलनी पड़ी हो, कुछ खोना भी पड़ा हो पर वे अपने मिशन में सफल रहे। ऐसे प्रसंग पर यदि आचार्य को चण्डी का अवतार भी लेना पड़े तो उसमें भी वे पीछे नहीं हटेंगे। यह आचार्य का गौरव है।

समाधि सूत्र-मान को नमा

मान को नमा, यह आत्मसमाधि का सूत्र है। प्रश्न होता है कि मान को क्यों नमाना? मान में क्या बुराई है। यदि उस पर गौर करें तो वह सम्मान सूचक है। क्या व्यक्ति को अपनी नजरों में अपना सम्मान नहीं करना चाहिये? मान बुरा है या नहीं यह समीक्षा का विषय है पर मान बुराई का बीज अवश्य है। बुराई के बीज को अंकुरित होने दिया जाय या उसका अंकुरण होते ही नष्ट कर दिया जाय? यदि मेरे से कोई पूछे तो मेरा उत्तर यह होगा कि उस बीज को अंकुरित होने ही न दिया जाय। बीज अंकुरित होता है खाद-पानी के योग से। यदि उसे खाद-पानी दिया ही न जाय तो वह उगेगा ही कैसे? इससे भी और आगे की बात करें तो उसे बोयें ही क्यों? यदि बोया ही नहीं जायेगा तो अंकुरित होगा ही कैसे? मान को नमाने का अर्थ है बीज को भून डालना। बीज भून देने पर उसके उगने-अंकुरित होने का चांस ही नहीं रहता। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। 'मान को नमा' यानी बुराई के बीज को बोना ही नहीं। उसे बोये जाने लायक ही न रहने दिया जाय।

मान महत्वाकांक्षी हुआ करता है। जब तक आकांक्षाएं पूर्ण होती रहें, वह बड़ा खुश रहता है। उस समय ऐसा लगता ही नहीं कि यह बुराई का बीज है। लेकिन जब उसकी आकांक्षा पूरी नहीं हो पाए तब उसकी अवस्था देखने जैसी होगी। वहीं से उसे छटपटाहट चालू हो जायेगी। वह नीति-मर्यादा का उल्लंघन करने में कोई संकोच नहीं करेगा। धीरे-धीरे उसमें से लाज-शर्म भी जाती रहेगी। वह दम्भी बन जायेगा। उसके बाद बुराइयों के परिणाम आने लगेंगे। जैसे ही उसका हौसला बुलंद होता है, वह गुणों पर बुलडोजर फेरने लगेगा। उसे रास्ते संकरे लगने लगेंगे। उसे चौड़ा रास्ता चाहिये। रास्ता जितना चौड़ा होता जायेगा, उसके लिये वह छोटा पड़ने लगेगा। वह उन्मादी बन जायेगा। रावण-दुर्योधन-शिशुपालादि अनेक पुरुष क्यों बुरे बन गये? अपने बड़प्पन का उन्माद ही ना? उस उन्मादी भाव से क्या परिणाम आए? अतः यह नहीं समझें कि यह आत्म-सम्मान दिलाने वाला है। आत्मा का अवमानना कराने वाला है वह। इसलिये उससे बचना ही श्रेष्ठ है। उसे भून देना ही सर्व श्रेष्ठ उपाय है।

एलर्जी से बचने के उपाय

किसी को किसी चीज-पदार्थ से एलर्जी हो जाय तो उसके दो उपाय हो सकते हैं। पहला- उस पदार्थ का उपयोग-उपभोग नहीं करे। यदि उसे छोड़ पाना संभव न हो तो उस पदार्थ के उपयोग के साथ ही एलर्जी की औषधि का सेवन करता रहे। ऐसा करने से एलर्जी से वह स्वयं को बचा सकता है। जीव-आत्मा को आरम्भ और परिग्रह की एलर्जी है। उसके कारण ही वह कर्म बन्धन करता है। उसी से वह कर्मों की पकड़ में आता है। इसलिये पहला उपाय तो यही है कि वह आरम्भ-परिग्रह से स्वयं को उपरत कर ले। आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दे। ऐसा करने से आत्मा स्वस्थ बन पायेगी। उसे एलर्जी सतायेगी नहीं। दूसरे उपाय के रूप में संयम-तप रूपी औषधि का सेवन करता रहे। यह उसके लिये है जो आरंभ-परिग्रह का त्याग करने में समर्थ न हो। संयम-तप का तात्पर्य है- आसक्ति का त्याग।

जीवन ट्रस्टी की तरह जीए। ऐसा करते रहने से भी जीव अशान्ति से स्वयं को बचा सकता है। आरंभ-परिग्रह सेवन से कुछ एलर्जी तो होगी पर अनासक्ति की औषधि जीव पर उसका ज्यादा असर होने नहीं देगी। किसी को सुगर-मधुमेह की बीमारी हो पर वह फीका दूध सेवन कर नहीं पाता तो सुगर फ्री टेबलेट उसमें डालकर ले लेता है। शक्कर जितनी मिठास तो नहीं आयेगी पर उसका काम चल जाता है। इसी प्रकार आरंभ-परिग्रह की एलर्जी को टालने के लिये अनासक्ति रूप औषधि का सेवन निरन्तर करते रहना जरूरी होगा। ऐसा करने पर उसका काम भी चलता रहेगा और जीव पर आरंभ-परिग्रह का विशेष प्रभाव भी नहीं बन पायेगा। ऐसा करते-करते जब अवसर आये तो आरंभ-परिग्रह से स्वयं को निवृत्त कर ले। पूरी स्वस्थता तो आरंभ-परिग्रह के त्याग से ही आ पायेगी। औषधि तो कुछ समय तक काम चला देती है। बीमारी के प्रभाव को कुछ कम कर देती है पर बीमारी से पूर्ण रूपेण निवृत्ति तो बीमारी के कारण को हटाने से ही संभव है। आरंभ-परिग्रह का त्याग ही जीव को पूर्ण स्वस्थ बना सकता है। ऐसा योग जो जीव करता है और यदि पूरी विधि से करता है तो एक वर्ष की अवधि में वह स्वयं को इतना बदला हुआ पायेगा जिसकी कल्पना करना भी कठिन है। कल्पना भले ही न हो पर है यथार्थ।

कठिन है कषाय त्याग

सर्व-दोष-विवर्जिता: अर्हन्तः। अरिहंत सर्व दोष रहित होते हैं। सारे छद्मस्थ दोष युक्त ही होते हैं, ऐसी बात नहीं है, पर हां छद्मस्थता जो स्वयं एक दोष रूप है, वह तो उनमें होता ही है। इसलिये उनका उत्कृष्ट चारित्र भी कषाय कुशील ही होता है। संज्वलन कषाय का पुट बना ही रहता है। सर्वज्ञों में उस प्रकार का दोष भी नहीं होता है। वे पूर्ण रूपेण निर्दोष होते हैं। सामान्य रूप से जो अठारह दोष माने गये हैं, वे उनसे मुक्त होते हैं। इसलिये उन्हें सर्व दोष रहित कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ भी दोष हैं। जैसे एक छोटी सी आलपिन मेटल डिटेक्टर में प्रवेश होने से व्यक्ति को रोक देता है, वैसे ही छोटा सा कषाय का भाव वीतरागता/सर्वज्ञता में प्रवेश रोक देता है। धन-वैभव, घर-परिवार का त्याग स्थूल है। उन्हें त्यागना आसान है पर सूक्ष्म कषायों का त्याग उतना सरल नहीं है। गेहूं में से कंकर निकालना सहज है पर वही कंकर जब गेहूं के साथ पीसा जाय तो आटे में से कंकर के कणों को निकाल पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। कंकर स्थूल होते हैं। उनका चूरा अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। कंकर दृश्य है पर उनका चूरा जो आटे में मिल गया, वह अदृश्य है, दिखता नहीं है। कषाय भी दिखते नहीं हैं। वे आत्मा के साथ घुले-मिले होते हैं। उनको निकालना अपेक्षाकृत बहुत कठिन काम है। बाहुबली जी बलवान थे। एक झटके में साधु बन गये पर ... एक छोटे से कषाय ने बारह महीनों तक उनको तपाये रखा। वे भी दृढ़ थे। वे हिले-डुले नहीं। खड़े हैं तो खड़े ही हैं पर छोटी सी आलपिन की तरह उस अल्प कषाय से वे वीतरागता में प्रविष्ट नहीं हो सके। संत तुलसी दास जी ने कहा भी है-

कंचन तजना सहज है, सहज तिरिया का नेह।

मान बड़ाई ईर्ष्या, तुलसी दुर्लभ एह॥

मान के भाव, बड़प्पन के भाव अन्दर से निकाल पाना कितना जटिल है, वह इससे व उपर्युक्त बाहुबली जी व और के दृष्टान्त से भली भांति जाना जा सकता है। गृहस्थ हो या साधु, मोक्ष में वही प्रवेश कर पायेगा जो आलपिन व आटे में मिले कंकर के पाऊंडर की तरह अपने में रहे हुए कषाय को दूर कर पायेगा, अन्यथा मोक्ष तो क्या सर्वज्ञता भी प्राप्त होना संभव नहीं है।

28. 01. 2017

मा. कृ. 1 शनिवार

ठाणा ईस्ट

(हरिओम नगर)

सुखी रहने का राज

जिनसे हम सुख की वांछा, चाह, कामना करते हैं, दुःख हमें उन्हीं से मिलता है। इसे समझें। वे दुःख नहीं देते पर हम उनसे दुःखी होते हैं। दुःख का कारण वे नहीं हैं। दुःख का कारण है हमारी कामना। हमारी कामना ही दुःख पैदा करती है। हम यदि किसी से कोई चाह नहीं करें तो हमें दुःख होगा ही नहीं। बाप, बेटे से अपेक्षा रखता है तो बेटा, बाप से। उन अपेक्षाओं में कोई व्यवधान खड़ा होता है तो दुःख होता है। अपेक्षाएं अपनों से पैदा होती हैं। पराये से अपेक्षा होती ही नहीं। आम जनता को सरकार से अपेक्षा होती है, क्योंकि उसे वे अपनी मानते हैं। उन्हें अन्य देशों से अपेक्षा नहीं होती। अन्य देश कानून के प्रावधानों से यदि उनके हितों पर आघात भी करे तो वह दुःख दायी नहीं लगता। व्यक्ति स्वयं को समझा लेता है। पर अपनों से पहुंचा हुआ आघात मन को समझने नहीं देता। मन तर्क प्रस्तुत करता है कि उसका तो यह दायित्व बनता है। उसे दायित्व निर्वाह करना ही चाहिये। अपेक्षा के साथ अधिकार का भाव भी जन्म लेता है। अधिकार-अपेक्षा पर जैसे ही समीपस्थ द्वारा आघात पड़ता है, मन उद्वेलित हो जाता है। मन कहता है, उसे ऐसा नहीं करना चाहिये था। उसे समझना चाहिये था। पर वह मन स्वयं नहीं समझता कि उसने उनसे कोई कामना, वांछा का भाव संजोया ही क्यों? बाप, बेटे से जैसा भाव संजोता है गांव के अन्य किसी लड़के से उसकी वैसी अपेक्षा नहीं होती।

बाप-बेटे में, भाई-भाई में, सास-बहु में, पति-पत्नी में, मेरेपन का संयोग बनता है। अपनेपन के भाव जग जाते हैं। उसी से उनसे चाह बन जाती है। पर यह निश्चित है कि सबकी-सब अपेक्षाएं न पूर्ण हुई हैं न होती हैं। सुखी वह होता है जो अपेक्षा के चक्रव्यूह में फंसता ही नहीं। अगर फंस गया हो तो उसका भेदन करके बाहर आ सकता हो, आ गया हो। अन्यथा वह उसी चक्रव्यूह में उलझा हुआ दुःखी होता रहेगा। दुःख से उसका बचाव होना दुष्कर है। सुखी रहना है तो पहली शर्त है किसी से अपेक्षा-कामना संजोओ मत। यदि कभी विचार आ भी गया तो उसे गहरा मत जमने दो। यदि कोई अपेक्षा पूर्ण करे तो भला, न करे तो भला। स्वयं को तटस्थ बनाकर जीओ। तुम अन्य की अपेक्षा मत करो। कोई तुम्हारी अपेक्षा करे तो उस समय उसे दोष मत दो। सह लो। यही सुखी रहने का राज है।

29. 01. 2017

मा. शु. 2 रविवार

ठाणा ईस्ट

(हरिओम नगर)

अन्तर्यामी

अन्तर्यामी का अर्थ है अन्तर की अवस्थाओं को जानने वाला। अधिकांश व्यक्ति बाहरी दुनिया की हलचल पर नजर रखे रहते हैं पर उनके अन्तर में क्या घट रहा होता है, उससे वे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। कभी कोई बहुत बड़ी घटना हो जाय तो उसे वे भले ही जान पाते हैं लेकिन आन्तरिक सूक्ष्म स्थितियों को वे भांप नहीं पाते। भगवान महावीर अथवा अन्य कोई भी तीर्थंकर, बाहरी दुनिया की हलचल को नहीं अपने भीतरी दुनिया की हलचल पर नजर गड़ाते हैं। वे सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं कि किन-किन परिस्थितियों में यह मन क्या-क्या सोचता है? अन्तर में कैसे-कैसे विचार पैदा होते हैं। ध्यान रहे! प्रत्येक विचार हमारे अन्तर में एक केमिकल छोड़ता है या यूं कहें कि हर विचार एक किस्म के केमिकल को पैदा करता है। वे केमिकल घातक भी होते हैं एवं साधक भी। कुछ हमारे भीतर मैत्री भावना पैदा कर देते हैं तो कुछ केमिकल ऐसे भी होते हैं जो शत्रुता-दुश्मनी के भाव पैदा कर देते हैं। कुछ केमिकल गाढ़े प्रभावी होते हैं तो कुछ ऐसे भी होते हैं जो थोड़ा सा असर करके नष्ट हो जाते हैं। इन सारी स्थितियों को जानने में समर्थ होना अन्तर्यामी अवस्था है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कोई छद्मस्थ व्यक्ति इन सारी स्थितियों को जानने में समर्थ हो सकता है ? इसका उत्तर होगा- निश्चित ही समर्थ हो सकता है। होता है। जितने भी तीर्थंकर हुए उन्होंने छाद्मस्थिक काल में ही अपने अन्तरंग को जानने का प्रयत्न किया था। उन्होंने स्वयं को प्रयोगशाला बनाया और स्वयं ही प्रयोगकर्ता बने। अनिष्ट विचारों को नष्ट करने में, दूर करने में कौन सा केमिकल प्रयोग करना, अच्छे विचार व निर्विचार की स्थितियाँ कैसे पैदा की जा सकती हैं, इस पर उन्होंने पूरा शोध किया। ऐसा भी कह सकते हैं कि इसी शोध ने उन्हें सर्वज्ञ बना दिया तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसा केवल तीर्थंकर भगवान ही नहीं अन्य व्यक्ति भी स्वयं से स्वयं का ज्ञाता बन सकता है। यह व्यवस्था सर्व सुलभ है। जो भी इसका लाभ लेना चाहे ले सकता है।

इज्जत लो मत, दो

अपनी इज्जत सबको प्यारी है। किसी की इज्जत से खेलने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया जा सकता। कैसा भी व्यक्ति है, उसका अस्तित्व है। उसके अस्तित्व पर हमला वह कभी स्वीकार नहीं कर सकता। यदि कोई जान बूझकर हमलावर बने तो उसके परिणाम को भी उसे भांप लेना चाहिये। अनुशासन के नाम पर या सुधार के नाम पर किसी को कुण्ठित कर देना, उसे पछाड़ देना बहादुरी नहीं है। सत्ता का मद आदमी से ओछी हरकत भी कभी करा देता है, जो लाभकारी नहीं होती। सत्ता का मद ओछे व्यक्ति को ही हुआ करता है। सत्ता सयाने हाथों में ही शोभित होती है। सत्ता का काम प्रशासनिक होता है, पर प्रशासन डण्डे के बल पर नहीं चलना चाहिये। अन्यत्र नहीं तो कम से कम परिवार-समाज व धर्म में तो एकदम नहीं। प्रताड़ना को अनुशासन की संज्ञा कभी नहीं दी जा सकती। अनुशासन हृदय को हर्षित करने वाला होना चाहिये। उसमें शास्ता को बेनकाब करने की जरूरत ही नहीं पड़नी चाहिये, बल्कि शास्ता की सीख से व्यक्ति में ऐसा परिवर्तन आए कि वह स्वयं अपनी नकाब उतार कर अलग रख दे और शास्ता को समर्पित हो जाय। चण्ड कौशिक को भगवान महावीर ने शासित किया था। शास्ता वह सफल है जो व्यक्ति के भीतर रहे शास्ता को जगा दे। जब भीतर में सोया शास्ता जाग जाता है तब उसे शासित करने का कार्य वह स्वयं करने लगेगा। इसलिये देखो कि शिष्य में सोया हुआ शास्ता कैसे जगे। यदि उसके साथ ज्यादाती की जाने लगेगी तो उसका शास्ता जगने के बजाय और कुण्ठित हो दुबक जायेगा। वह तहों में जा छिपेगा जहां से उसे निकाल पाना आसान नहीं होगा। उस स्थिति में शास्ता का सारा श्रम निष्फल साबित होगा। जो उसका करणीय था, वह उसे कर ही नहीं पायेगा बल्कि जो नहीं होना चाहिये था वह घट जायेगा। शास्ता को दिल रूपी मिट्टी को कोमल-नरम बनाना चाहिये न कि पीट पाट कर उसे आर.सी.सी. के पत्थर की तरह सघन बना दे। यदि शास्ता ने किसी दिल को पत्थरनुमा बना दिया तो यह शास्ता की जीत नहीं हार ही समझी जानी चाहिये। इसलिये इज्जत लो मत, दो।

धर्माचरण, आत्मोत्कर्ष के लिये

भोजन स्वाद के लिये नहीं, क्षुधा को शान्त करने के लिये होना चाहिये। स्त्री का सेवन भी नीतिकारों ने सन्तान प्राप्ति के लिये बताया है, विषय भोग के लिये नहीं। वस्त्र शोभा के लिये नहीं, लज्जा ढकने के उद्देश्य से पहनना चाहिये। इसी प्रकार धर्माचरण, लोगों को दिखाने के लिए या अर्थादि लाभ के लिये नहीं होना चाहिये। उसका एक ही उद्देश्य होना चाहिये- कर्मों की निर्जरा। जो धर्माचरण आत्मा की शुद्धि नहीं कर पाता, वह आध्यात्म की दृष्टि से, आराधना की दृष्टि से व्यर्थ है।

किसान खेत में बीज, फसल-अन्न प्राप्ति के लिए डालता है न कि घास पाने के लिए। वह हल जोतने आदि रूप जो भी क्रियाएँ करता है अन्न प्राप्ति के लिये ही करता है। उसका उद्देश्य मात्र शरीर को क्लेशित करने का नहीं होता। उसी प्रकार तप-जप-नियमादि सारी क्रियाएँ आत्मा को बन्धन से मुक्त कराने के लिये होनी चाहिये।

स्नान तन के मैल को दूर करने के लिये एवं तन के ताप को हटाने के लिये किया जाता है। वस्त्रों के मैल को दूर करने के लिए क्षार पदार्थ, साबुन, सर्फ आदि का प्रयोग किया जाता है। वस्त्रों को शल्य रहित बनाने के लिये उस पर इस्त्री-आयरन किया जाता है। वैसे ही आत्मा के ताप-सन्ताप को दूर करने के लिये तप का प्रयोग किया जाना चाहिये एवं वह निशल्य बने एतदर्थ आलोचना, निन्दा, गर्हा की जानी चाहिये।

रसायन सेवन से नर कंकाल भी जैसे स्वस्थ, सुडौल, सुरम्य बन जाता है वैसे ही संयम रूपी रसायन से कर्म-कषायों से जर्जरित आत्मा भी दिव्य-भव्य बन जाती है। उसका कल्याण रूप, मंगल रूप, दिव्य रूप एवं चैत्य रूप प्रकट हो जाता है।

जैसे यज्ञ में प्रज्वलित अग्नि नमस्करणीय मानी गई है, वैसे ही अहिंसा, संयम-तपादि से अभिषिक्त आत्मा वंदनीय-नमस्करणीय, सत्कार और सम्मान योग्य बन जाती है। अतः धर्म की सारी क्रियाएँ आत्मोत्कर्ष के लिए ही की जानी चाहिये।

पहले स्वयं को देखो

व्यक्ति को स्वसंवेदन के धरातल से समीक्षण प्रज्ञा पूर्वक चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार से सोचने वाला अनेक तनावों से स्वतः मुक्त हो जाता है। अधिकांशतया व्यक्ति दूसरों की जिन प्रवृत्तियों से तनावग्रस्त होता है, समयान्तर से वह भी उन्हीं प्रवृत्तियों से गुजरता है। वह जब उस प्रकार की प्रवृत्ति-व्यवहार कर रहा होता है तब वह नहीं सोचता कि मैं कभी इसी प्रकार की प्रवृत्ति पर खिन्न होता था। दूसरों को दोष देता था। तब वह द्वेष की कारण भूत थी, अब वही आदरणीय हो गई। स्व संवेदन का धरातल व्यक्ति के द्वेष भाव को, खिन्नता को हटाने वाला होता है।

स्व संवेदन कार्य तक ही दृष्टि को समाहित नहीं करता। वह कारण पर भी विचार करता है। वह सोचता है कि मेरे सामने अमुक तरह की परिस्थिति थी तब मुझे वैसा व्यवहार करना पड़ा, मैं उस प्रकार से प्रवृत्त हुआ था। अन्य के समक्ष भी निश्चित ही कोई परिस्थिति रही होगी। मैं अन्य की प्रवृत्ति नहीं उसकी परिस्थिति को भी देखूँ। उस समय वह उसकी कारण भूत अवस्थाओं पर दृष्टिपात करेगा। उससे वह सामने वाले की कठिनाई को समझ पायेगा। संभव है उस समय वह उसकी प्रवृत्ति के कारण खिन्न नहीं होता हुआ, सामने वाले की कठिनाई को समझता हुआ आश्वस्त होगा। एक व्यक्ति छंट-छंट कर सब्जी खरीदता है। दूसरा उसके कार्य पर मन ही मन प्रतिक्रिया करता है कि क्या अन्य कोई सब्जी खरीदने वाला है ही नहीं। थोड़ी देर में संयोग ऐसा बना कि उसे ही सब्जी खरीदने जाना पड़ गया। वही दुकान, वे ही सब्जियाँ, बदला तो केवल ग्राहक। वह भी सब्जियाँ देख-देखकर तराजू पर धरने लगा ? क्या वह उस समय यह सोचता है कि अन्य को ऐसा करते हुए देखकर मैं प्रतिक्रिया में आता था तो क्या मुझे भी वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। यह एक नहीं, ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं। कोई छंट-छंट कर पदार्थ खा रहा है तो कोई कुछ अन्य। ऐसी प्रवृत्तियों से जो स्वयं को प्रतिक्रिया में लगाये रखेगा वह कभी भी स्वयं को शान्त, समाधिस्थ, सुखी नहीं रख सकता।

तत्त्व-चतुष्टयी

‘सुदेव-सुगुरु-सुधर्म’। इस तत्त्वत्रयी के विषय में अनेक बार अनेक महापुरुषों द्वारा विवेचन होता रहा है। इस तत्त्वत्रयी के साथ-साथ सुश्रावक का भी संयोग होना चाहिये। श्रावक समाज में यह चर्चा उठती रहती है कि सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर आस्था रखना, उसकी आराधना करना, पर वह यह क्यों नहीं सोचता कि सुश्रावक के बिना यह तत्त्वत्रयी क्या सुरक्षित रह सकती है ?

मेरी दृष्टि में दुष्कर है। उक्त तत्त्वत्रयी महत्त्वपूर्ण है, उसमें कोई दो राय नहीं है पर सुश्रावकत्व का सम्बन्ध भी इसके लिए उतना ही जरूरी है। वर्तमान में सुगुरु-सुधर्म तो मिल जायेगा, किन्तु सुश्रावक कितने मिलेंगे ? कितने ऐसे श्रावक मिलेंगे, जिन्होंने कभी भी साधुओं को सदोष-आहार नहीं बहराया ? कितने ऐसे श्रावक हैं जो कर्तव्य पथ पर अटल हैं, अडिग हैं। कितने ऐसे श्रावक मिलेंगे जो वस्तुतः आत्मा व देह की भिन्नता के बोध व्यापार से युक्त हैं। साधियों! रोटी कितनी भी रूपाली हो, नरम-गरम हो, घी से गलगच हो पर खाते समय उस रोटी में यदि किर-किर आए तो वह रोटी दिल को प्रसन्न कर सके, यह कम संभव है। धर्म की आराधना करने में जो श्रावक वर्ग तत्पर है कहीं उसके जीवन में वैसी किर-किर तो नहीं है ? मन की पवित्रता के बिना धर्म की आराधना कैसे हो पायेगी ? श्रावक जीवन यदि नैष्ठिक नहीं होगा तो, उससे धर्म की प्रभावना कितनी हो पायेगी। संतों का हर किसी के साथ व्यवहार नहीं होता पर श्रावक का व्यवहार किसी भी कौम के व्यक्ति के साथ हो सकता है। उसका वह व्यवहार कितना सौम्य है, कितना प्रभावोत्पादक है, उसी से धर्म की प्रभावना हो सकती है। संतों का मुख्य कार्य आत्म कल्याण है, पर श्रावक के लिए आत्म-कल्याण का कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है धर्मशासन की प्रभावना करना भी उसका उतना ही दायित्व पूर्ण कर्तव्य है। धर्म शासन की शोभा बढ़े, प्रभावना हो, इस पर भी उसे गहरा विचार करना होता है। समाज और राष्ट्र में उसकी धाक भी होनी चाहिये। ऐसा नहीं कि वह किसी के कहने मात्र से डांवाडोल हो जाय। वह आस्था का पुंज होता है। उसके अन्तर ही अन्तर में आत्मा की अनुगूंज होती है। व्यवहार में जीते हुए भी जिसके अन्तर की बाती सदा प्रज्वलित रहती है। रहती रहनी चाहिये।

विरक्त मन तू सोच

विरक्त मन! विचलित मत होओ। संयम पथ पर चलने की तुम्हारी भावना उत्तम है, श्रेष्ठ है। परिजन यदि तैयार नहीं हो रहे हैं तो तुम्हें खिन्न होने की कहाँ जरूरत है। तुम स्वयं को साधो। स्वयं को साधना ही संयम है। अपने आकार को विस्मृत कर दो। खोजने पर भी तुम्हारा आकार तुम्हें ज्ञात न हो, क्योंकि जब तक तुम्हारा बाह्याकार सतेज रहेगा तुम आन्तरिक झलक पाने में समर्थ नहीं हो पाओगे। तुम्हारा तन तो घर में रहे पर तुम घर में मत रहना। तुम्हारी उपस्थिति का अहसास अन्य को न हो ऐसा तुम्हारा प्रयास होना चाहिये। तुम अपने में ही खो जाओ। दुनिया तुम्हें देखे, पर तुम्हें दुनिया नजर ही न आए। तुम गहरे पैठते जाओ। गहराई में उतरते जाओ। जहां बस तुम्हारी अपनी ही दुनिया हो। तुम अपने में समाते जाओ। समाते जाओ... समाते जाओ। तुम्हारी अन्तराय को तुम्हें ही दूर करना होगा।

परिजन तब तैयार होते हैं, जब तुम्हारा उपादान सबल बन जाता है। जब तुम्हारा अन्तराय कर्म टूट जाता है। अन्तराय कर्म में छेद बन जाता है। तुम्हारा अपने में समाना अन्तराय कर्म को छेदने का ही काम करेगा। संयम-दीक्षा के पश्चात भी तुम्हें यही करना है। उसे तुम अभी से शुरू कर दो। जो तुम्हारे हाथ में है, जो तुम कर सकते हो, उसमें देर मत करो। आत्मा को परम ज्योति परमात्मा में लीन कर दो। अपने परम तेज को जागृत करो। अपने परम स्वरूप से साक्षात्कार करो। उसी में लीन हो जाओ। बाह्य दुनिया में क्या हो रहा है, उसे तुम्हारी इन्द्रियाँ भले ही देखें पर तुम उससे अछूते बने रह सको, यह प्रयास तुम्हें करना है। यदि कभी थोड़ा भी ऐसा लगे कि परिजन, माता-पिता, भाई बाधक बन रहे हैं तो तत्काल विचारना, नहीं वे बाधक नहीं हैं। वे तो परम उपकारी हैं। उन्होंने इस तन रूपी आवास में अवस्थान दिया है। आनुवांशिक संस्कारों से मुझे सजित किया है। मेरे ही कर्म, जो मैंने किसी जन्म में किये हैं, किसी को संयम लेने से रोका है, उसी का यह परिणाम है। मुझे अपने पुरुषार्थ से कर्मों को क्षीण करना है। कर्म क्षीण होंगे तो सारी स्थितियां स्वतः अनुकूल हो जायेंगी।

दृष्टि तुम्हारी निर्णय तुम्हारा

कोई भी व्यक्ति, पदार्थ एकान्ततः हेय या उपादेय नहीं होते। अवस्था के अनुसार, समयानुसार एक समय जो व्यक्ति या कार्य हेय होता है वह समयान्तर से उपादेय बन जाता है। इसलिए किसी के प्रति न राग बढ़ायें न द्वेष। न प्रीत करें न नफरत। व्यक्ति या पदार्थ जैसा है, वैसा समझें। उसके अस्तित्व को स्वीकारें। व्यक्ति या पदार्थ में गुण-दोष बढ़ भी जाते हैं और घट भी जाते हैं। परिवर्तनशील जगत् में परिवर्तन होते रहते हैं पर अस्तित्व सदा स्थायी रहता है। उसकी स्थिरता बनी रहती है। जो स्थिरता को, अस्तित्व को देखता है, उस पर जिसकी दृष्टि बनी रहती है, उसके लिए कोई भी व्यक्ति या पदार्थ अयोग्य नहीं होता। वह जानता है आज जो अयोग्य है, कल योग्य हो सकता है। होता है। आज जो किसी काम में आने लायक नहीं है, वह कल किसी भी काम में आ सकता है। यह विषय तो विज्ञान ने भी आज सिद्ध कर दिया है। जो कचरा, जो पॉलीथिन की थैलियाँ कल तक सिरदर्द बनी हुई थीं, उनका आज उपयोग हो रहा है। आज वे किसी कार्य के लिए योग्य सिद्ध हो रही हैं। यह गुण पहले से उसमें था ही। आज ही यह गुण उसमें पैदा हुआ है, ऐसा नहीं कह सकते। यदि पर्याय की दृष्टि से विचार करें तो वीतरागता में भी अयोग्यता छिपी हुई है। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग सर्वज्ञ नहीं बन पाते। सर्वज्ञ बनने की उनमें योग्यता नहीं है, ऐसा नहीं है। अभी वह योग्यता व्यक्त नहीं है, इसीलिए प्रधान है व्यक्ति की दृष्टि, वह किसे किस दृष्टि से देखता है। वह यदि अस्तित्व की आंख से देखता है तो उसे पदार्थ की ध्रौव्यता के दर्शन होंगे। यदि पर्याय की दृष्टि से देखेगा तो उसे अस्थिरता-परिवर्तनशीलता दिखेगी। जैसी दृष्टि होगी, वह वैसा ही देख पायेगा। अतः व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति या पदार्थ को एक ऐंगल, कोण से ही नहीं देखते हुए उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि को मद्देनजर रखना चाहिये। वह पर्याय को देखता हुआ भी अस्तित्व को भूले नहीं। अस्तित्व भी उसकी नजर में रहे।

उसी डाल को काटे क्यों ?

हमारा जीवन कई अवयवों से निष्पन्न है। हमारे जीवन निर्माण में कई घटक जुड़े हैं तब जीवन का निर्माण हुआ है। संघ या संस्था का जीवन भी अनेक घटकों से संघा हुआ होता है। अनेक विध नियम-उपनियम उसके अवयव होते हैं। उनकी सुरक्षा से संघ या संस्था सुरक्षित रहती है। कोई कार के चक्के को ढीला करके उस कार से यात्रा करना चाहे तो क्या वह उस मिशन में सफल हो पायेगा ? कहना होगा कि वह उस कार से मंजिल नहीं पा सकता। संयम-धर्म संघ का भी एक जीवन होता है। उसके आधार पर व्यक्ति मोक्ष रूपी मंजिल पा सकता है। पर कार के चक्के को ढीला करने के समान संघानुशासन-संयम मर्यादाओं का ध्यान न रखे, उनका पालन न करे तो वह अपने मकसद में सफल नहीं हो सकता। व्यक्ति को कभी भी उस डाल को काटने का प्रयास नहीं करना चाहिये जिस पर वह बैठा हो। यदि कोई वैसा करता है तो उसके दुष्परिणाम को भी उसे जान लेना चाहिये। होना तो यह चाहिये कि वह स्वयं उस डाल को नहीं काटे जिस पर वह बैठा है। यदि उस डाल को कोई अन्य भी काटने लगे तो उसे रोके। यदि वह नहीं रोकता है तो उसका दुष्परिणाम भी उसे भोगना ही पड़ता है। जिसने कभी ट्रेन में यात्रा की है, वह जानता है कि अनावश्यक रूप से जंजीर को खींचना अपराध है। यदि बिना काम के ही कोई बार-बार जंजीर खींचता रहे तो क्या उसे कोई नहीं रोकेगा ? उसे कोई रोकना नहीं चाहेगा ? संघ मर्यादाओं का उल्लंघन करना भी अपराध रूप है। वह मर्यादा छोटी हो या बड़ी, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मर्यादा उल्लंघन करने वाले की नीयत से अपराध छोटा या बड़ा बनेगा। संघ मर्यादा का उल्लंघन करना अनेक लोगों को असंमजस में डालना है। अनेक लोगों को डिस्टर्ब करना है। अनेक लोगों के समक्ष उलझन पैदा करना है। संघ मर्यादाएं यदि किसी को रास न आए तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि मर्यादाएं दोष पूर्ण हैं। रास न आना व्यक्ति की नासमझी हो सकती है। उस नामसमझी को दूर करने का उसे प्रयत्न करना चाहिये। उन मर्यादाओं को समझने का प्रयत्न उसे करना चाहिये।

धर्म का माप

धर्म की व्याख्या अनेक विध प्रकार से की गई है। कुछ ऐसा भी कहा जाता है कि धर्म व्याख्या की चीज नहीं है, उसे तो जीना होता है। यह बात कुछ अंशों में सही भी हो सकती है किन्तु जीने के लिए भी धर्म को जानना तो होगा ही। उसके बिना उसे कैसे जीया जायेगा ? जो जानने का उपक्रम है उसे ही व्याख्या कहा जा सकता है। व्याख्या से ही धर्म जाना जा सकेगा, उसके बाद ही उसे जीया जा सकता है। धर्म व्यक्ति के जीवन में उतरा या नहीं, व्यक्ति धर्म में जीया या नहीं, जीया तो कितना जीया ? व्यक्ति के जीवन में धर्म कितना उतरा, इसको क्या मापा जा सकता है ?

निश्चित रूप से माप सकते हैं। धर्म में जीने वाला कभी अपना व दूसरे का बुरा कर नहीं सकता। यह एक पक्ष हुआ। इसका दूसरा पक्ष है- कोई उसके प्रति बुरा व्यवहार करे, उसे गलत ठहराए, उसके खिलाफ अनगुल बकवास करे, पर उसको उसका अहसास ही न हो। ये सब उसे प्रभावित न कर सकें तो समझना चाहिये कि वह धर्म के शिखर पर है अथवा वह धर्म को गहराई से 'जी' पाया है। जैसे आर.सी.सी. की दीवार में कील घुस नहीं पाती, जैसे बरसाती पहने हुए व्यक्ति को पानी का स्पर्श नहीं होता, वैसे ही धर्म से जिसने स्वयं को आर.सी.सी. की तरह ठोस बना लिया हो, धर्म रूपी बरसाती को जिसने धारण किया हो उस पर किसी के द्वारा की गई प्रतिक्रिया उसका कुछ भी बिगाड़ने में समर्थ नहीं होती। उसका उस ओर ध्यान जाता ही नहीं। जैसे गजसुकमाल मुनि का ध्यान सोमिल के कृत्य के प्रति नहीं गया। खंधक जी का ध्यान राजाज्ञा की तरफ नहीं गया। भगवान महावीर का ध्यान कानों में कीलें ठोकने वाले की तरफ नहीं गया। ये सब अपने में रहे। वैसे ही जो अपने में आ जाय तो उसका ध्यान दूसरी तरफ जायेगा नहीं। धर्म अपने में जीने का ही दूसरा नाम है, ऐसा यदि कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उक्त क्रिया के समय कौन कितना, कैसा अनुभव करता है, वही उसके धर्म में जीने का मापदण्ड है। उसी से उसका मूल्यांकन हो सकता है।

पछाड़ने के लिए पिछड़ो मत

कुछ लोग होते हैं जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ने की फिराक में लगे रहते हैं। वह व्यक्ति आगे न बढ़ सके, विकास यात्रा तय न कर सके, समृद्ध न बन सके, इसके लिए जी तोड़ परिश्रम करते हैं। एक प्रकार से अपनी पूरी शक्ति उसे पछाड़ने में लगा देते हैं, झोंक देते हैं। उससे होता यह है कि वह स्वयं अपने विकास की तरफ ध्यान नहीं दे पाता है, परिणाम स्वरूप वह पिछड़ जाता है। उसकी शक्ति का हास होता जाता है। आर्थिक दृष्टि से भी वह कई बार लड़खड़ा जाता है क्योंकि उसने अपने व्यापार में ध्यान देना प्रायः बन्द सा कर दिया था। व्यापार को व्यक्ति जब तक देखता रहता है तब तक वह लाइन पर चलता है पर जब उसकी दृष्टि उस पर से हट जाती है तो उसे दूसरों की नजर लग जाती है। वे मौके का लाभ उठा लेते हैं परिणाम स्वरूप मालिक धोखा खा जाता है। जो ड्राइवर ओवरटेक करने की नीयत से दूसरी गाड़ी पर निगाह रखे लेकिन अपनी गाड़ी के स्टेयरिंग आदि पर ध्यान न दे तो उसका परिणाम क्या होगा, यह भली भांति जाना जा सकता है। अतः अपने प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ने के लिये यही एक मार्ग नहीं है। यदि व्यक्ति सकारात्मक सोच से आगे बढ़े तो वह सफल हो सकता है। उचित तरीका भी यही है। व्यक्ति अपने जीवन विकास पर ध्यान देना शुरू करे, योजनाएं बनाये। पूरी शक्ति लगाकर उन्हें कार्यान्वित करे। जो-जो कार्य योजना कार्यान्वित हो जाय, लाइन पर चल पड़े, नई योजना तैयार करे। ध्यान रहे! प्रत्येक योजना को कार्यान्वित करने के लिए अलग-अलग अनेक व्यक्तियों की युति जरूरी है लेकिन पकड़ सब पर अपनी बनी रहनी चाहिये। एक भी कार्य योजना नजर से ओझल नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार से वह थोड़े ही दिनों में एक तरफा विकास की ओर बढ़ता जायेगा। देखते ही देखते अपने प्रतिद्वन्द्वियों को वह पीछे छोड़ देगा। स्पष्ट है किसी लाइन को काट छांट कर छोटी करने के बजाय उसके सामने एक लम्बी रेखा खींच दी जाय तो पहले वाली रेखा स्वतः छोटी हो जायेगी। अतः किसी को पछाड़ने के लिए तुम स्वयं मत पिछड़ो। तुम आगे बढ़ते जाओ। बढ़ते जाओ। बढ़ते जाओ ...

मोड़ पर मुड़ना कैसे?

एक छोटा सा मोड़ जीवन को अच्छाई या बुराई से बहुत दूर करने वाला बन सकता है। रोड के एक छोटे से मोड़ से इस बात को समझा जा सकता है। रोड को जो मोड़ दिया जाता है उसका भी तरीका, टेक्नीक होता है। ऐसा नहीं कि जहां-तहा मोड़ दिया जाय। ड्राइवर गाड़ी को मोड़ता है, उसका भी विज्ञान है। इसी प्रकार जीवन को मोड़ने की कला भी व्यक्ति को होनी चाहिये। जो जीवन को मोड़ने में समर्थ होता है, वह कभी सन्तापित नहीं होता। वह प्रसन्नता से अपना सफर तय कर पाता है। जीवन भी रोड की तरह है। उसमें कई मोड़ आते हैं। उन मोड़ पर व्यक्ति को सावधान रहना होता है। यदि गाफिल बना रहे तो मोड़ उसके जीवन को खतरनाक तोड़ वाला बन सकता है। अर्थात् उसके जीवन को भयंकर एक्सीडेंट के दौर से गुजार सकता है।

प्रायः सभी के जीवन में मोड़ आते हैं। राम के जीवन में भी मोड़ आया। रावण के जीवन में भी। रावण को जहां संभलना था, संभल नहीं पाया। राम संभल गये। राम का जीवन एक्सीडेंट से बच गया। रावण स्वयं को बचा नहीं पाया। इसी प्रकार विभीषण के समक्ष भी एक मोड़ आया, कुम्भकर्ण के समक्ष भी वह मोड़ आया। विभीषण राम-शरण को प्राप्त हो लंकेश, लंका का राजा बन जाता है, जबकि कुम्भकर्ण राम शरण-युद्ध में मारा गया। वह भी यदि संभल गया होता तो उसका जीवन महत्त्वपूर्ण बन जाता। पर नहीं संभल पाया जिससे मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि राम ने स्वयं को अच्छाई की तरफ मोड़ा और रावण ने बुराई की तरफ। अच्छाई की तरफ मुड़ने वाला अमर बन गया, जबकि बुराई की तरफ स्वयं को मोड़ने वाला काल के गाल में समा गया। हमारे जीवन में भी ऐसे कई मोड़-अवसर आते हैं, जहां हमें निर्णायक होना होता है। एक सही निर्णय मंजिल दिलाने वाला बन जाता है, वहीं एक गलत निर्णय उसे मंजिल से दूर, बहुत दूर ले जाने वाला बन सकता है। अतः जीवन में आने वाले मोड़ों पर सावधान रहें।

संवाद से विवाद टरे

जब कोई व्यक्ति विवाद की मनोवृत्ति को छोड़ ही न पाए तो क्या करना चाहिये ? यह प्रश्न कई बार उठता रहता है। वह भले ही पाकिस्तान के संदर्भ में हो या किसी व्यक्ति के विषय में। पाकिस्तान का रवैया भारत के प्रति विरोधात्मक रहता है, ऐसा आए दिन सुना-पढ़ा जाता है। इसी प्रकार पड़ोसी या अन्य कोई भी व्यक्ति विरोध की मनोवृत्ति को ही प्रश्रय दे तो क्या करना, यह प्रश्न बनता है। उसका उत्तर दो तरीके से हो सकता है। उत्तर व्यक्ति के सामर्थ्य के आधार पर बनता है। व्यक्ति यदि समर्थ हो, धैर्यवान हो तो उसे उससे संवाद बनाये रखना चाहिये। उसे यह विश्वास रखना चाहिये कि सुधार संवाद से ही हो सकता है। संवाद के रास्ते यदि खुले रहते हैं तो आज नहीं कल सुधरने का अवसर आ सकता है। संवाद से विवाद कमतर होता जाता है अन्यथा विवाद और गहरा बनता जायेगा। दूध ऊफनने पर ठण्डे पानी के छींटे डालने पर उफान थम जाता है। उफान रुक ही गया ऐसा नहीं कह सकते पर एक बार वह थम जरूर गया। इसी प्रकार विवाद को संवाद के पानी से थामा जा सकता है। यदि संवाद से समाधान ही नहीं, होता नजर ही न आए तो व्यक्ति को माध्यस्थ भाव में स्वयं को उपस्थित कर लेना चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि अभी समय पका नहीं है। जब काल पकेगा तो परिणाम आयेगा। पर उसे कभी यह विचार नहीं करना चाहिये कि परिणाम आयेगा ही नहीं। भले ही परिणाम न भी आये पर व्यक्ति को अपनी तरफ से पूर्ण विराम नहीं लगाना चाहिये। उसे आशावादी रहते हुए विचार करना चाहिये कि आज नहीं तो कल। यदि कभी भी सामने वाले की तरफ से कोई प्रस्ताव आए तो व्यक्ति को अपनी उदार वृत्ति रखते हुए आत्मीय भावों का परिचय देना चाहिये। यद्यपि एक नीति ऐसा भी कहती है कि - **'जैसे को तैसा', 'शठं शाठयं कुर्यात्'** अर्थात् शठ के प्रति शठता का ही व्यवहार करना चाहिये। किन्तु उसे अन्तिम अस्त्र समझें। कभी-कभी जो कार्य प्रेम से नहीं हो पाता वह कठिनता से हो जाता है।

स्वयं को संयमित बनाओ

जीवन चर्या को नियमित-संयमित बनाओ। तुम जीओ। अपने रास्ते पर चलो। तुम किसी के लिए बाधक मत बनो। किसी की राह को रोको मत। हो सके तो अपनी तरफ से किसी को भी सही राह दिखाओ। चलने की सोच उसकी अपनी होनी चाहिये। तुम उसे चलाने की फिक्र मत करना। चलाने की फिक्र आग्रह पैदा करती है। उस समय उसकी चाहत बनेगी कि वह तुम्हारे दर्शाये रास्ते पर चले। पर जैसे तुम्हारे से कोई जबरन कुछ कराना चाहे, हो सकता है उसकी दृष्टि में वह तुम्हारे हित में हो पर तुम्हें नहीं लगता कि वह तुम्हारे हित में होगा, उस समय तुम्हारा मन उसके प्रति क्या सोचेगा ? यदि लाचारी में तुम्हें वैसा कुछ करना पड़ भी गया तो तुम्हारा मन उसके लिए पूर्ण रूप से समर्पित नहीं हो पायेगा। मन से तुम उस कार्य से स्वयं को अलग बनाये रखोगे। इसी दृष्टि से अन्य को भी देखो कि जिससे तुम आग्रह पूर्वक कुछ करवाना चाहते हो उसका मन क्या विचार करता होगा। यदि बार-बार दूसरे के मन के विपरीत कुछ करवाया जाता रहा तो हो सकता है उसके भीतर विरोध के भाव उभरें। वह तुम्हारा विरोधी बन जाय। तुम्हारे प्रति उसके मन में जो भी श्रद्धा विश्वास आदि रहा हो वह धीरे-धीरे मंद पड़ जाय और एक समय ऐसा भी आ सकता है कि वह तुम्हारी कोई बात सुनने को भी तैयार न हो। अतः अपनी बात कहो, पर थोपो मत। यदि कोई नियमादि सामुदायिक दृष्टि से जरूरी हो तो उसके लिए भी तुम उसके भीतर यह अहसास करा दो कि तुम जो कह रहे हो वह एक दम सही है, तब वह भी उसे स्वीकार कर लेगा। उसे सही समझ लेगा तो उसे उस विषय को स्वीकार करने में मन विरोधी भावना में नहीं आ पायेगा, बल्कि वह तुम्हारे प्रति विशेष रूप से समर्पित, श्रद्धावान बनेगा। उसे लगेगा कि तुम उसके लिए जो कह रहे हो, वह उसके लिए ही हितकर है। यदि पर के लिए कुछ जरूरी न हो तो तुम अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर स्वयं को संयमित-नियमित रखो।

किस श्रेणी में हैं हम ?

व्यक्ति की भाव भंगिमा से उसके आन्तरिक जीवन की पहचान हो सकती है। व्यक्ति की चाल एवं बोली से भी उसके स्वभाव को भांपा जा सकता है। संसारी प्राणी कर्मों से घिरा हुआ होता है, इसलिए उनके स्वभाव- (विभाव) में भिन्नता होती ही है। सोच, कार्य शैली आदि से उसकी भिन्नता स्पष्ट ही है फिर भी उनको कुछेक श्रेणियों में बांटा जा सकता है। यदि उनकी कार्य पद्धति आदि के आधार पर उनके विभाग किये जायं, तो चार विभाग हो सकते हैं। यथा-

(1) कुछ लोग प्रारम्भ बहुत अच्छा करते हैं। शुरुआत उनकी बड़ी प्रभावी होती है पर अन्त उनका गरिमा को, प्रभाव को हानि पहुंचाने वाला होता है। ऐसे लोग प्रायः वे होते हैं जो भावुकता में बह जाते हैं। शुरुआती दौर में थोड़ा सोचते-विचारते होंगे पर बाद में भावनाशील बन जाते हैं अथवा बाद में वे दूसरे के साथ व्यवहार को बिगाड़ लेते हैं।

(2) दूसरे विभाग में उन लोगों को रखा जा सकता है जो शुरुआत ठीक नहीं कर पाते। धक्के-ठोकरें खाते हैं पर करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान के अनुसार कार्य करते-करते अन्त में सफल हो जाते हैं।

(3) तीसरे विभाग में वे ग्रहण किये जाते हैं, जो शुरुआत भी समझदारी से करते हैं एवं अन्त भी। यानी उनका कार्य, उनकी सोच शुरु से अन्त तक एक प्रकार से सिस्टम-तकनीकी रूप से सम्पन्न होता है। वे शुरु से अन्त तक कार्य योजना योजित करते हुए आग बढ़ते हैं।

(4) चौथे प्रकार में उन व्यक्तियों को समावेश होता है जो न शुरु में अच्छा प्रदर्शन कर पाते हैं और न अन्त में। ऐसे लोगों के लिए कहा जा सकता है- **'काम बिगारे आपनो जग में होत हंसाय'**। वस्तुतः ऐसे लोग अपनी बिखरी सोच के कारण बार-बार मन-विचार बदलते रहते हैं, जिससे वे सफल हो ही नहीं पाते। किस कार्य को कैसे करना, यह उनकी समझ में ही नहीं आ पाता। इससे वे अपना काम भी सही नहीं कर पाते और जग में हंसी के पात्र भी बनते हैं। हम देखें कि हम किस श्रेणी में हैं।

घर जमाइयों को दूर हटाओ

हम अन्तर में जिसे भी बसाते हैं, स्थान देते हैं वह जितना स्थान घेरता है वह स्थान अपना-अपने स्वामित्व का होने पर भी आत्म-अधिगत रह नहीं पाता। उस पर उन्हीं का अधिकार हो जाता है जिनको अवस्थान दिया गया है। उनका वास जब तक रहेगा, तब तक वह स्थान आत्म-अधिगत नहीं हो पायेगा। मालिक यदि कमजोर हो तो किरायेदार उस पर हावी हो जाता है। वह जगह भी घेरे रहता है और धौंस भी देता रहता है। मालिक थोड़ा चू चपड़ करे तो वह आंख दिखाता नजर आता है। लगभग यही दशा आत्मा की है। जिसने अन्तर में जिनको भी स्थान दिया वे घर जमाई बन बैठे हैं। उनको हटाने का साहस आत्मा नहीं कर पा रही है। यह निश्चित है कि जब तक आत्म-तेज जागृत नहीं होगा तब तक उनको-घर जमाइयों को हटा पाना, दूर करना दुर्भर है। उसके लिए आत्मा को अपना तेज तो जगाना होगा। आत्म तेज जगेगा तो घर जमाइयों की जड़ें, पकड़ शिथिल हो पायेगी। चंदन-वृक्षों पर भुजंग लिपटे रहते हैं, वे उससे दूर हटना नहीं चाहते, चंदन की ठण्डक उन्हें बड़ी सुखदाई लगती है, पर मयूर की कलरव जैसे ही होती है, उनकी पकड़ शिथिल हो जाती है। वे वहां से पलायन करने लगते हैं। ऐसे ही आत्म-तेज प्रकट होगा तो घर जमाइयों की पकड़ शिथिल हो पायेगी व वे स्थान छोड़ने को बाध्य हो पायेंगे। इसके लिए आत्मा को संयम का सहारा लेना होगा। दूसरे शब्दों में संयम ही आत्मतेज है। वही आत्मा रूपी मयूर का कलरव है।

जीव जब पुद्गलों में, पांच इन्द्रियों के विषयों में आरक्त होता है तब उसमें जो स्पन्दन होता है उससे वह आत्म विस्मरण की स्थिति में चला जाता है। वह आत्म-शक्तियों को भूल जाता है। उसे अपनी शक्तियों पर जैसा चाहिये वैसा विश्वास नहीं रहता। उन विषयों की अनुरक्ति से उसकी शक्तियां मंद भी पड़ जाती हैं। पर संयम वह रसायन है जिससे जीव खोये हुए आत्मविश्वास से लबरेज हो जाता है। उसकी शक्तियां भी स्पन्दित होने लगती हैं। उसी से वह आत्म-निष्ठ बन सकता है एवं अपने अन्तर में बसाये सारे विजातीय तत्त्वों को दूर हटाने में समर्थ हो पाता है।